श्रीप्रेमामृत–गीता

अठारहों अध्याय

श्रीमद्भगवद् गीता का छन्दानुवाद

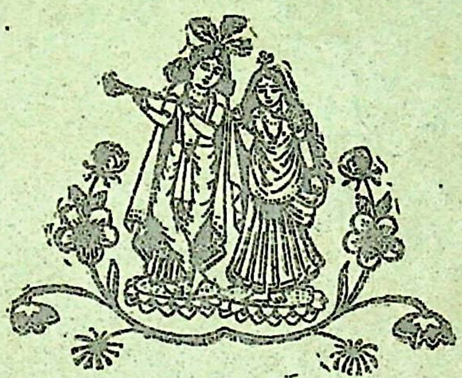

लेखक व प्रकाशक

प्रेमी बाबा लछमनदास

मु०-बजीरपुर (सवाई माधोपुर) राजस्थान

प्रथमबार सन् १९६१ मूल्य २ रु० ५० नये पैसे

मुद्रक–जी०डी० भरतिया श्रीकृष्ण पब्लिशिंग हाउस प्रेस मथुरा।

4290

ॐ

श्रीप्रेमामृत–गीता

अठारहों अध्याय

श्रीमद्‌भगवद्‌ गीता का छन्दानुवाद

ब्रज मण्डल मथुरा विषै, श्री गोवर्द्धन प्रेस ।
इस में ही छापा गया, ये गीता उपदेश ॥

हर प्रकार की पुस्तकें, छपती यहां तमाम ।
इसी वजह इस प्रेस का, है चौतरफा नाम ॥

लेखक व प्रकाशक

प्रेमी बाबा लछमनदास

मु०-वजीरपुर (सवाई माधोपुर) राजस्थान

प्रथमबार सन् १९६० मूल्य २ रु० ५० नये पैसे

मुद्रक–जी०डी०;भरतिया श्रीकृष्ण पब्लिशिंग हाऊस प्रेस मथुरा

श्रियैनमः

प्राक्कथन

यह सर्वसम्मत निर्विवाद सिद्धान्त है कि पृथ्वी मण्डल की समस्त प्रचलित भाषाओं में "श्रीमद्भगवद्गीता" के समान ज्ञान परिपूर्ण सर्वोच्च ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं है । यह वेद वेदान्त तथा उपनिषदों का सारभूत ग्रन्थरत्न है। गीता ज्ञान और धर्म की निधि है। यह केवल हिन्दुओं की ही नहीं अपितु समस्त जगत् के मानव जाति की निधि है । यह ग्रन्थ समस्त शास्त्रों का देदीप्यमान मुकुट मणि है । जगत् के सम्पूर्ण साहित्य में मानव जीवन के अत्यन्त उच्चस्तर प्राप्ति के लाभ की दृष्टि से देखने पर भी भगवद्गीता के जोड़ का अन्य कोई भी ग्रन्थ नहीं है ।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥१॥

इस उक्ति के अनुसार षडैश्वर्यसम्पन्न, चराचरजगद्वन्दित, आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द, परात्पर परब्रह्म के परिपूर्णावतार साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के श्री मुख की दिव्य-वाणी होने के कारण यह वेदों के समान अपौरुषेय ही है ।

"कर्मोपास्तिज्ञानभेदैः शास्त्रं काण्डत्रयात्मकम् ।"

छः २ के अध्यायों के क्रम से कर्म, उपासना और ज्ञान रूप काण्ड त्रयात्मक होने से सभी मार्गवालों के लिये यह गीता शास्त्र तत्तत्सत्पथप्रदर्शक होने से विश्वभर के मनुष्यों का वन्दनीय तथा माननीय हो गया है । जिन जिन प्राचीन आचार्य सन्त महन्त महात्माओं ने इस ज्ञान प्रदीप का प्रकाश प्राप्त किया उन उन महानुभावों ने अपनी लोकोपकारिणी कर्तव्य परायणता में उद्युक्त होकर जगत् के कल्याण के लिये अपने भाष्यों तथा टीकाओं द्वारा इसके प्रकाश का प्रसार और प्रचार किया किन्तु वे सब संस्कृत भाषा में होने के कारण सर्व साधारण जनता के लिये दुरूह बने हुए हैं ।

अतः इसी उद्देश्य को लेकर जगद्गुरु श्रीरामानन्दसंप्रदाय के श्रीवैष्णव श्रीलक्ष्मणदासजी महाराज ने सर्व साधारण जनता की हित की दृष्टि से समस्त 'श्रीमद्भगवद्गीता' का हिन्दी के "रोला" छन्दों में इतना आकर्षक और उपादेय अनुवाद किया हैं जोकि पढ़ते ही बनता है ।'श्री लक्ष्मणदासजी महाराज' का यह 'रौला-छन्दमय' गीता का अनुवाद आजतक के सभी पद्यमय अनुवादों की अपेक्षा सरल, सफल तथा सरस हुआ है । इसमें सन्देह नहीं कि आपने गीता के प्रत्येक श्लोक का ऐसी शैली से अनुवाद किया है कि जो गीता के मूल तत्व को प्रस्फुटित करता हुआ पाठक के हृदय में तत्तद-भाव को बड़ी सरलता से हृदयंगम करा देता है। हिन्दी भाषा भाषियों के लिये तो यह अनुवाद 'गीतासार सर्वस्व' ही हो गया है । कोमलकान्तपदावली से परिपूर्ण यह 'रौला छन्द मय' गीतानुवाद पद्यमय होने के कारण तो लोगों की और भी अधिक रुचि उत्पन्न करने वाला होगया है । यह तो निश्चित ही है कि—गद्यकी अपेक्षा पद्य शीघ्र कण्ठस्थ हो

जाते हैं और उनके उच्चारण में संगीत का एक मनोरंजक विशिष्ट आनन्द प्राप्त होता है और इसीलिये उसमें पढ़ने वालों की अधिक प्रवृत्ति तथा हृदय को बड़ा उल्लास प्राप्त होता है। अभी तक गीता का 'रौला छन्द' में अनुवाद नहीं हुआ था। संगीतमय रौला-च्छन्दों में अनुवाद होने से उसमें एक प्रशंसनीय विशिष्टता हो गई है।

अन्तमें इसके लेखक श्रीलक्ष्मणदासजी महाराज का यहाँ संक्षिप्त परिचय दे देना भी अयुक्त न होगा। आपने अपने शुभ जन्म से–'ग्राम–फतेहपुर (तहसील मासलपुर करौली राजस्थान] तथा क्षत्रिय कुल को पवित्र किया है। आपका गुरु स्थान पो० वजीरपुर [तहसील गंगापुर, जिला-माधोपुर जयपुर राजस्थान] है। आप श्रीमद्भगवद्गीता के तथा हिन्दी के ज्ञाता हैं। श्री रामानन्दी श्रीवैष्णव होने से विशिष्टा-द्वैतवेदान्त-सिद्धान्त तो आपका निज अभ्यस्त विषय ही है। आप ऐसे ही लोकोपकारी शुभ कर्मों का सदा जनता को उपदेश देते रहते हैं और स्वयं भी करते रहते हैं।

विदुषां वशंवद––
आचार्य परमानन्द शास्त्री मिश्र
गौघाट मथुरा

मिती आषाढ़ शुक्ला द्वितीया
वै०सं० २०१७

❋ श्री गीताजी की प्रार्थना ❋

❋ दोहा ❋

जय जय जय मातेश्वरी, गीता तुम्हें प्रणाम ।
वेद शास्त्र उपनिषद में, है तू ही सरनाम ॥

卐 卐 卐

ॐ जय भगवत गीता, मैया जय भगवत गीता ।
जो नर प्रसन्न होकर, गीतामृत पीता ॥ ॐ जय ॥
परम सुहावनि निर्मल, भक्ति दान दीजै । मैया० ।
सुख सम्पति की दाता, मात कृपा कीजै ॥ ॐ जय ॥
सब ग्रन्थों का सुन्दर, सार तुही पाई । मैया० ।
कृष्णचन्द्र ने अपने, श्री मुख से गाई ॥ ॐ जय ॥
ज्ञान विराग योग की, तू कर्ता राखी । मैया० ।
निर्गुण ब्रह्म स्वरूपणि, वेदों ने भाखी ॥ ॐ जय ॥
वेद उदधि का जल है, तो बिन अति खारा । मैया० ।
बादल होकर बरसो, अमृत की धारा ॥ ॐ जय ॥
जिसे पान कर निश्चय, भव से तर जाते । मैया० ।
निज स्वरूप को पाकर, जीवन फल पाते ॥ ॐ जय ॥
गुरु मुख होकर तुमको, जो नित प्रति ध्यावें । मैया० ।
उनके संशय सबही, जड़ से मिट जावें ॥ ॐ जय ॥
तारण तरण ज्ञानमय, तू सुख की रासी । मैया० ।
लक्ष्मण दास सुवानी, निस दिन गुण गासी ॥ ॐ जय ॥

卐 卐 卐

❋ दोहा ❋

गीता तिमिर विनाशिनी, उत्तम ज्ञान प्रकास ।
लक्ष्मीपति के हृदय में, करती सदा निवास ॥

श्री प्रेमामृत गीता

* गुरु प्रार्थना *

श्री गुरु शीष नवाय, ध्यान चरणन में लाऊं।
गीता का अनुवाद, सरल भाषा में गाऊं॥
मेरी ओर निहार, प्रेम से ध्यान दीजिये।
बुद्धि विशारद होय, कृपा बस यही कीजिये॥
सब से भारी ग्रन्थ, महा भारत बतलाया।
जिसमें गीता ज्ञान, बड़ा उत्तम दरशाया॥
उसी ज्ञान के लिए, अगारी कथन करेंगे।
जिसे समझ कर मनुष, पाप में नहीं परेंगे॥
महाराज धृतराष्ट्र, रहे हस्तिनापुर माहीं॥
परन्तु थे जन्मान्ध, दीखता कुछ भी नाहीं।
संजय ने वरदान, व्यासजी से ये पाया।
घर बैठे सब हाल, नृपति के लिये सुनाया॥

अथ गीता आरम्भः

* प्रथम अध्याय *

दोहा---प्रथमहिं अध्याय श्रवण करि, अर्जुन किया विषाद।
लक्ष्मण गुरु की कृपा से, रचित दिव्य सम्वाद॥

* राजा धृतराष्ट्र बोले *

धर्म क्षेत्र कुरु क्षेत्र, युद्ध भूमी में जाकर।
हुए वीर एकत्र, युद्ध की इच्छा पाकर॥
मेरे अरु पुनि पाण्डु, सुतों का हाल सुनाओ।
हे संजय क्या किया, उन्होंने सो समझाओ॥ १॥

संजय कहने लगे नृपति, सुनिये चित धर कर।
लड़ने को तैयार, खड़े दोनों दल सँजकर॥
दुर्योधन ने देख, पाण्डु सेना की रचना।
द्रोण गुरुन के पास, जाय कर बोला वचना॥ २॥

बुद्धिमान है शिष्य, आप का परम सयानो।
दृष्टद्युम्न निज नाम, द्रुपद का पुत्र पिछानो॥
जिसके द्वारा रची, व्यूह रचना अति प्यारी।
भारी पाण्डव सेन, खड़ी है लेओ निहारी॥ ३॥

इस सेना में बड़े, धनुष वाले बतलाये।
अर्जुन भीम समान, सभी योधा कहलाये॥
युयूधान वैराट, नृपति भी छत्तर धारी।
द्रुपद राज सर नाम, नाम इनका भी भारी॥ ४॥

चेकितान धृतकेतु, और काशीपति स्वामी।
कुन्ति भोज पुरजित्त, सैव्य मनुषों में नामी॥ ५॥
युधामन्यु रणधीर, बड़ा ही वीर बखाना।
ऐसा ही बलवान, उत्तमोजाभी जाना॥

अभिमन्यु प्रिय वीर, सुभद्रा पुत्र कहाये।
पाँचों ही सुत प्रबल, द्रोपदी के भी आये॥ ६॥
ब्राह्मण कुल में आप, बड़े ही उत्तम जाने।
बानावली महान, धनुर्विद्या में माने॥

मेरी ओर प्रधान, पक्षकारी बतलाऊँ।
जो जो सेनापती, उन्हीं के नाम सुनाऊँ॥ ७॥
प्रथम आप पुनि भीष्म, कर्ण पूरे बलधारी।
कृपाचार्य विजयि, बड़े मेरे हितकारी॥

अश्वस्थामा प्रबल, भयंकर युद्ध मचावे।
मरने वाला नहीं, वीर वह अमर कहावे॥
सोमदत्त का पुत्र, बड़ा ही लड़ने वाला।
विकर्ण भी नहिं कभी, युद्ध से हटने वाला॥ ८॥

और बहुत से वीर, खड़े लड़ने को आगे।
मेरे लिये तमाम, जिन्होंने जीवन त्यागे॥
भारी भारी शस्त्र, अनेकन कर में धारे।
हैं सब के सब चतुर, युद्ध के करने हारे॥ ९॥

मेरी सेना भीष्म, पितामह द्वारा रक्षक।
सब प्रकार से अजय, करे वैरिन का भक्षक॥
उनकी सेना माहिं, भीम है रक्षा कारी।
पर लड़ने में सुगम, होयगी जीत हमारी॥१०॥

अपनी अपनी जगह, सबहि अब दृढ़ हो जाओ।
हृदय धीर्यता धार, मोर्चों पर अड़ जाओ॥
एक बात सब लोग, ध्यान देकर सुन लीजे।
चहूँ ओर से आप, भीष्म की रक्षा कीजे॥११॥

गुरू द्रोण के साथ, नृपति बातें कर रह थे।
वहीं पितामह भीष्म, खड़े सबको सुन रह थे॥
दुर्योधन के हृदय, बहुत ही हर्ष बढ़ाया।
सिंहनाद समगर्ज, उच्च स्वर शंख बजाया॥१२॥

फिर इसके उपरान्त, सबों ने शंख बजाये।
नर सिंहा पुनि ढोल, नगाड़े भी बजवाये॥
मिलकर सब का साथ, शब्द घनघोर हुआ था।
कान दई नहिं सुनी, भयंकर शोर हुआ था॥१३॥

उतमें घोड़े श्वेत, रहे अर्जुन के रथ में ।
ऐसा रथ प्रिय और, नहीं था दोनों दल में ॥
अर्जुन अरु श्री कृष्ण, विराजे जिसके अन्दर ।
उनके शङ्ख विचित्र, बजे थे अति ही सुन्दर ॥१४॥

पाञ्च जन्य श्रीकृष्ण, बजाया शङ्ख सुहावन ।
तिसका शब्द महान, अलौकिक चित्त लुभावन ॥
देवदत्त पुनि शङ्ख, वीर अर्जुन को गाज्यो ।
पौंड्र नाम का शङ्ख, भीम को भी फिर बाज्यो ॥१५॥

अनन्त विजयी शङ्ख, युधिष्ठिर का कहलाया ।
इसका भी अति गहन, शब्द सुनने में आया ॥
नकुल और सहदेव, इन्होंने शङ्ख बजाये ।
मणि पुष्पकहि सघोष, जिन्होंके नाम बताये ॥१६॥

काशिराज बलवान, धनुषः है जिनको भारो ॥
महारथी रणधीर, शिखंडी वीर निहारो ॥
धृष्टद्युम्न वैराठ, वीर दोनों कहलाते ।
और सात्त्वकी अजय, जीतने में नहिं आते ॥१७॥

द्रुपद राज सरनाम, बड़े ही लड़ने हारे ।
पाँचों पुत्र महान, द्रोपदी के भी प्यारे ॥
सुन्दर भुजा विशाल, सुभद्रा पुत्र सजे हैं ।
अलग अलग प्रिय शङ्ख, सबों के खूब बजे हैं ॥१८॥

इन शंखों का शब्द, एक दम निकला भारी ।
पृथ्वी अरु आकाश, तलक एकहि धुनि जारी ॥
सुन करके अति घोर, शब्द से चित्त चल गये ।
और नृपत धृतराष्ट्र, सुतों के हृदये हिल गये ॥१९॥

अर्जुन ने ये लखा, कौर्व सुत खड़े हुए हैं।
लड़ने को तैयार, शस्त्र ले अड़े हुए हैं॥
अपना भी प्रिय धनुष, आपने तुरत सँभारा।
समझ परम प्रिय कृष्ण, चन्द्र को वचन उचारा॥२०॥

हे भगवन् अब रथै, सामने बढ़ा दीजिये।
दोनों सेना माहिं, बीच में खड़ा कीजिये॥२१॥
खड़े हुए सब वीर, युद्ध की इच्छा करके।
जिनको अच्छी तरह, देख लूँगा जी भरके॥

एक बात पुनि और, दूसरी उपजी मन में।
किन किन के सँग मुझे, उचित है लड़ना रण में॥२२॥
दुर्योधन दुर्बुद्धि, नृपति के चहने हारे।
सोच रहे कल्यान, हितैषी बनकर प्यारे॥

आये राजा लोग, जिन्हों के सँग में भारी।
उन सबको मैं आज, युद्ध में लऊं निहारी॥२३॥
अर्जुन के सुन वचन, कृष्ण ने रथ को हाँका।
पहुँचे दोउ दल बीच, जहाँ वीरों का नाक़ा॥
भीष्म पिता गुरु द्रोण, वहाँ पर थमे हुए थे।
और नृपति भी सभी, तहाँ पर जमे हुए थे॥२४॥
उसी जगह रथ रोक, कृष्ण ने वचन उचारी।
हे अर्जुन ले देख, कौर्व सुत खड़े अगारी॥
दोनों कटक विशाल, लखे अर्जुन ने जबही।
अपना ही परिवार, दृष्टि में आया सबही॥२५॥
काका बाबा भ्रात, और मामा भी जिसमें।
पुत्र पौत्र पुनि मित्र, श्वसुर भी देखे इसमें॥

आचारी निज पूज्य, सुहृद सबके सब प्यारे ।
कोइ बटाऊ नहीं, खास अपनेहि निहारे ॥२६॥
इस प्रकार से खड़े, हुए सब के सब भाई ।
जिन्हें देखकर हृदय, बहुत ही करुणा छाई ॥

प्रबल शोक से ग्रसित, हुआ अर्जुन जब बोला ।
कृष्ण चन्द्र के लिए, हाल दिल का सब खोला ॥२७॥
हे भगवन् सब स्वजन, हितैषी रण में लख कर ।
अंग शिथिल हो गया, पापड़ी पड़ गइ मुख पर ॥२८॥

कम्पित देह तमाम, भई रोमांचित कारी ।
कैसी दशा महान, आज बनगई हमारी ॥२९॥
जबरन गाण्डिव धनुष, हाथ से गिरा जात है ।
त्वचा बहुत जल रही, आपसे सही बात है ॥

मन भी मेरा भ्रमित, चक्र की तरह फिरै है ।
खड़ा नहीं रह सकूं, देह जनु अभी गिरै है ॥३०॥
ये लक्षण विपरीत, दिखाई देते मुझको ।
नहिं केशव कल्यान, मारने से निज कुलको ॥३१॥

नहिं चाहूँ मैं विजय, कृष्ण अब इन लोगों से ।
कहा प्रयोजन मुझे, राज्य के सुख भोगों से ॥३२॥
हे गोविन्द कृपाल, मुझे कुछ नहीं सुहाता ।
है जीना बेकार, हृदय बस यही चहाता ॥

अब हम जिनके लिए, राज्य सुख भोग चहावें ।
वे ही जीवन त्याग, युद्ध में खड़े दिखावें ॥३३॥
गुरु जन ताऊ चचा, पुत्र पौत्रादिक तहँ पर ।
मामा साले श्वसुर, सभी सम्बन्धी यहँ पर ॥३४॥

हे मधु सूदन इन्हें, मारने पर भी अथवा।
त्रय लोकी का राज्य, मिले तो भी नहिं परवा॥
फिर पृथ्वी के राज्य; पाट की क्या सुमार है।
सोचा अच्छी तरह, नीत का यही सार है॥३५॥
कौरव सुतों को मार, प्रशंसा नहीं हमारी।
हैं अततायी लोग, गई मति इनकी मारी॥३६॥
फिर भी है ये भ्रात, मारने योग्य नहीं है।
किसी तरह भी इन्हें, मिटाना उचित नहीं है॥३७॥

यदपि लोभ से भ्रष्ट, चित्त जिनके होरह हैं।
अपने को नहिं समझ, वृथा जीवन खो रह हैं॥३८॥
कुल के नाशक दोष, विपरिये कर्म कहावें।
मित्र साथ कर वैर, पाप को नहीं लखावें॥

हे भगवन् ये दोष, नाश कुल का करते हैं।
ऐसा जाने हुए, फेर भी नहिं डरते हैं॥३९॥
हम लोगों के लिए, अवशि ये होना चहिये।
पापों का दुष्भार, हृदय से खोना चहिये॥

होतहिं कुल का नाश, सनातन धर्म नशावे।
नष्ट होंय शुभ कर्म, पाप कुल में छा जावे॥४०॥
इन पापों से बिगड़, स्त्रियां कुल की जातीं।
इनहीं की सन्तान, वर्ण संकर कहलातीं॥४१॥

ये ही कुल के लिए, नरक को ले जाते हैं।
जिनके जल अरु पिंड, पित्र भी नहिं पाते हैं॥४२॥
वर्णसंकरादिकहि, दोष कुल में छा जाता।
जाति धर्म भी नष्ट, सनातन भी मिट जाता॥४३॥

नष्ट होंय कुल धर्म. पाप से जिन मनुषों के ।
बहुत काल तक वास, नरक में सुने उन्हों के ॥४४॥
बड़े सोच की बात, आज हम ज्ञानी बनकर ।
पापों को तैयार, खड़े करने को मन कर ॥

राज्य सुखों के लिए, लोभ से ग्रसे हुए हैं ।
कुल का करिवे नाश, क्रोध से भुँजे हुए हैं ॥४५॥
हे भगवन् अब शस्त्र, रहित मैं होना चाऊं ।
चाहे कुछ भी कहो, युद्ध को नहीं रचांऊ ॥

कौर्वं सुतों के हाथ, भलहिं मैं मारा जाऊं ।
मेरा तो कल्याण, इसी में सत्य लखाऊं ॥४६॥
कह संजय सुन नृपति, आज का हाल अनूठा ।
करके शोक महान्, पाण्डु सुत रण में रूठा ॥
पटक दिया निज धनुष, युद्ध की करदी नाहीं ।
बैठ गया चुप चाप, पिछारी रथ के मांहीं ॥४७॥

ॐ श्री कृष्णार्जुन सम्वादे ॥ अर्जुन विषाद योगोनाम ॥

॥ प्रथम अध्याय ॥ सम्पूर्णम् ॥

* अथ दूसरा अध्याय *

अर्जुन को भयभीत लख, सांख्य योग निर्धार ।
प्रेमी लक्ष्मण दास को, करिये भव से पार ॥

* संजय बोले *

हे राजन् धृतराष्ट्र, और फिर सुनो अगारी ।
अर्जुन बैठा हुआ, शोक करके अति भारी ॥
है करुणा से व्याप्त, नीर नैनन से जारी ।
ऐसी व्याकुल दशा, देख बोले गिरधारी ॥ १ ॥

हे पारथ अज्ञान, हुआ क्यों युद्ध स्थल में ।
ये आचरण निषेध, लखे नहि सत पुरुषन में ॥
इन बातों से कीर्ति, किसी को मिले नहीं है ।
और स्वर्ग की प्राप्ति, उन्हें भी होय नहीं है ॥ २ ॥

हे अर्जुन इस समय, नपुंसकता मत लाओ ।
ये तुमको नहिं योग्य, चित्त को क्यों दहलाओ ॥
जो दुर्बलता भरी, हृदय से इसे निकालो ।
उठो युद्ध के लिए, आपना धनुष संभालो ॥ ३ ॥

अर्जुन ने पुनि कहा, सुनो प्रभू बात हमारी ।
भीष्मपिता गुरु द्रोण, युद्ध में खड़े अगारी ॥
इन पर हे भगवान्, किस तरह शस्त्र उठाऊँ ।
ये दोनों ही पूज्य, आपको क्या समझाऊँ ॥ ४ ॥

भिक्षा का प्रिय अन्न, मांगकर अवश्य खाऊं ।
इसमें ही उद्धार, हमारा सही लखाऊं ॥
निज स्वारथ के लिए, निठुरता ऐसी धारूं ।
है कितना अन्याय, घोर जो इनको मारूं ॥
गुरु लोगों को मार, राज्य सुख भोगूं कैसे ।
सने रुधिर के साथ, भोग वे समझो ऐसे ॥ ५ ॥

हे भगवन् हम लोग, जानते ये भी नाहीं ।
कौन धर्म है श्रेष्ठ, करें हम जिसके ताहीं ॥
ये भी नहिं मालूम, हमहिं जीतेंगे इनको ।
इसका भी नहिं पता, स्यात जीतें वे हमको ॥
और इन्हीं को मार, हमहूँ नहि जीना चावें ।
वे ही कौरव पुत्र, सामने खड़े दिखावें ॥ ६ ॥

कारपराय का दोष, हृदय पर छाय रहा है।
स्वभाव ही हत हुआ, चित्त अकुलाय रहा है॥
धर्म विमोहित हुआ, शोक में डूब रहा हूँ।
इसीलिये भगवान्, आप से पूछ रहा हूँ॥
जो कुछ निश्चय किया, हुआ साधन बतलाओ।
जिससे हो कल्यान, वही मुझको समझाओ॥
हे भगवन् मैं शिष्य, आपका कृपा कीजिये।
शरण गहे की लाज, मुझे उपदेश दीजिये॥ ७॥

निष्कण्टक धन धान्य, युक्त पुनि इस पृथ्वी को।
मिल जावे सम्पूर्ण, राज्य हे भगवन मुझको॥
देवन का अधिपत्य, पूज्य स्वामी बन जाऊँ।
तौ भी मेरे हृदय, शान्ति को नहीं लखाऊँ॥
प्रबल शोक से ग्रसित, इन्द्रियाँ सूख गईं सब।
जिसका कोई यत्न, सूझता मुझे नहीं अब॥ ८॥

संजय कहने लगे, नृपति सुनि बात हमारी।
अर्जुन का प्रिय नाम, दूसरा और उचारी॥
हैं तो द्वादश नाम, मुख्य दो एक बतावें।
गुडा केश क्यों कहें, अर्थ इसका बतलावें॥
दृढ़ आसन दृढ़ नेम, नींद को जीता जिसने।
गुडा केश यों नाम, दूसरा पाया इसने॥
उस अर्जुन का आज, शोक ने ज्ञान हर लिया।
नहीं करूंगा युद्ध, इस तरह साफ कह दिया॥
हे गोविन्द कृपाल, मोह से हृदय भर गया।
ऐसा शब्द उचार, उसी क्षण चुप्प पड़ गया॥ ९॥

हे राजन् धृतराष्ट्र, यहाँ से आगे फिर सुन ।
महा शोक से युक्त, हुआ देखा तब अर्जुन ॥
दोनों दल के बीच, सभी वीरों के आगे ।
अर्जुन से श्री कृष्ण, विहँसि कर कहने लागे ॥१०॥

हे अर्जुन नहिं योग्य, शोक को क्यों शिर धरते ।
और बात भी बड़ी, पण्डितों की सी करते ॥
पण्डित जन तो कभी, इस तरह नहिं घबड़ाते ।
अथवा जीवन मरण, विषै में शोक न लाते ॥११॥

जीव आत्मा नित्य, हमेशा रहने हारा ।
फिर तो करना शोक, व्यर्थ ही हुआ तुम्हारा ॥
ऐसा भी नहिं किसी, काल में जो मैं नहिं था ।
थे राजा भी लोग, और फिर तू क्या नहिं था ॥
अथवा ये भी नहीं, यहाँ हम सब थिर रहगें ।
इसका तत्त्व विशेष, और भी आगे कहगें ॥१२॥

जीव आत्मा विषै, अवस्था तीन बताईं ।
बालक वृद्ध जवान, सबहि देहों में पाईं ॥
ये विकार स्थूल, देह के प्रगट बताते ।
धीर पुरुष इन विषै, मोह को नहिं उपजाते ॥
दूजी सूक्ष्म देह, बिना अवयव की जानों ।
जिसमें चौदह तत्त्व, वही सूक्ष्म पहिचानों ॥
ज्ञान इन्द्रिये पाँच, पाँचही प्राण समारो ।
अहंकार मन बुद्धि, और पुनि चित्त निहारो ॥
मिलकर चौदह भये, यही सपने के अन्दर ।
बिना बीज का जगत, रचे हैं अति ही सुन्दर ॥

तृतीय कारण देह, सुषुप्ती में दरसाया ॥
तहँ केवल अज्ञान, दोष एकहि बतलाया ॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति, अवस्था से वह न्यारो ।
दृष्टा साक्षी रूप, दृष्य से परे विचारो ॥
ऐसा तत्व विचार, ज्ञान में लेले गोता ।
वो ही धीर महान्, कभी नहिं मोहित होता ॥१३॥

सर्दी गर्मी और, दुःख सुख देने वाले ।
इन्द्रिन के संयोग, बुद्धि के हरने वाले ॥
क्षण भंगुर ये भोग, समझ कर रहना चहिये ।
हे अर्जुन इस लिये, इन्हों को सहना चहिये ॥१४॥

जिसने दुख सुख एक, बराबर समझ लिया है ।
विषयों से लोलुप्त, हृदय को स्वच्छ किया है ॥
इन्द्रिन के उद्वेग, जिन्हों के नष्ट हुए हैं ।
वे ही ज्ञानी धीर, मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ॥१५॥

असत वस्तु भी कभी, सत्य नहिं होती अर्जुन ।
सत्य वस्तु भी असत, होय नहिं ये भी अर्जुन ॥
सत असत्य का भाव, प्रथक बतलाया अर्जुन ।
इन दोनों का तत्त्व, लखैं ज्ञानी हे अर्जुन ॥१६॥

इसी न्याय अनुसार, आत्मा सत्य कहाया ।
जिससे ये सम्पूर्ण, जग्त पुनि व्याप्त लखाया ॥
नहिं कोई सामर्थ्य, नाश करने को इसका ।
है अखंड प्रिय तत्त्व, रूप अविनाशी जिसका ॥१७॥

वो अविनाशी दिव्य, आत्मा अमर जानिये ।
नाशवान ये देह, सभी की असत मानिये ॥

नाश रहितनिज रूप, अप्रमे समझ लीजिये।
इसीलिये हे पार्थ, युद्ध को अवशि कीजिये ॥१८॥

जो समझे इस तरह, आत्मा मारण हारा।
अथवा यों भी कहें, आत्मा मरने वारा॥
वे दोनों ही पुरुष, परस्पर नहीं जानते।
करते मिथ्या वाद, आत्मा मरा मानते॥
हे अर्जुन ये जीव, किसी को नहीं मारता।
खुद भी मरता नहीं, समझ ये सत्य वारता ॥१६॥

हे पारथ इस तरह, तुम्हें मैंने समझाया॥
अथवा जीवन मरण, आत्मा में नहिं पाया॥
किसी काल में नहीं, आत्मा खोने वाला।
अथवा ये भी नहीं, हुवा फिर होने वाला॥
जीव अजन्मा नित्य, शास्वत और पुरातम।
देह नष्ट हो जाय, होय नहिं इसका नाशन ॥२०॥

हे अर्जुन जो पुरुष, आत्मा को यों जानत।
नाश रहित पुनि नित्य, अजन्मा अव्यय मानत॥
ऐसा समझे हुए, कौन किसको मरवाता।
नहिं मारे नहि मरे, आप में आप समाता ॥२१॥

यदि अर्जुन तू कहै, शरीरों के छुटने का।
सो तुमको नहिं योग्य, शोक इनके मिटने का॥
जिस प्रकार से मनुष, पुराने वस्त्र छोड़ता।
पुनि इसके उपरान्त, दूसरे नये ओढ़ता॥
इसी तरह से जीव, आत्मा का भी कारण।
जीर्ण देह को त्याग, दूसरा करता धारण ॥२२॥

हे पारथ ये जीव, शस्त्र से कटै नहीं है।
फिर जल के भी विषै, कभी ये गलै नहीं है॥
और आग भी कभी, जला सकती नहिं इसको।
इसी तरह से पवन, सुखा सकती नहिं जिसको॥२३॥

हे अर्जुन ये शुद्ध, आत्म अच्छेद्य कहावे।
है अशोष्य अक्लेद्य, अदाह्य वो कहलावे॥
निःसंदे हम नित्य, आत्मा परम अनूपम्।
है व्यापक सर्वत्र, सनातन अचल स्वरूपम्॥२४॥

इन्द्रिन को नहिं विषय, आत्म अव्यक्त लखाया।
मनका भी नहिं विषय, अचिंत्यं रूप सुहाया॥
है विकार से रहित, आत्मा निर्मल निर्गुन।
ऐसा उसको जान, शोक तू मत कर अर्जुन॥२५॥

यदि उसको तू सदा, जन्मने वाला जानैं।
इसी भाँति से और, सदां मरना भी मानें॥
तो भी तुमको शोक, कभी नहीं करना चहिये।
समझ अमिट ये बात, धैर्यता रखना चहिये॥२६॥

निश्चय होता जन्म, और निश्चय ही मरता।
इसका नहीं उपाय, शोक फिर क्यों तू करता॥२७॥

भीष्मादिक के देह, माय कृत अनित्य जानों।
यों भी तुमको शोक, कभी नहिं चहिये लानों॥
हे अर्जुन ये देह, जन्म पहले नहिं पाई।
मरने के भी बाद, दृष्टि नीचे नहिं आई॥
केवल बीचहि माँहिं, देह वाले दिखलाते।
आदि अंत में नहीं, वृथा क्यों चिन्ता लाते॥२८॥

हे पारथ ये आतम, तत्त्व अति गहन बताया ।
जिसे अचम्भित समझ, महा पुरुषों ने पाया ॥
कोई पुरुष महान्, समझकर कहते इसको ।
कोई अच्छी तरह, ध्यान से सुनते जिसको ॥
कोई ऐसे पुरुष, सुने पर भी नहिं जानें ।
करते तर्क वितर्क, तत्त्व को नहिं पहचानें ॥२९॥

हे भारत ! ये आतम, सबहिं देहों के मांही ।
है अवध्य इसलिये, शोक क्यों करो वृथाहीं ॥३०॥

लखो आपनो धर्म, योग्य नहिं ये भय तुमको ।
धर्म युक्त कर युद्ध, उचित है यह अब तुमको ॥
इससे बढ़कर और, श्रेष्ठ करतव्य न पाया ।
क्षत्रिन का व्यवहार, मुख्य ये ही बतलाया ॥३१॥

खुले स्वर्ग के द्वार, आपही उन वीरन को ।
मिलता ऐसा युद्ध, भाग्य शाली क्षत्रिन को ॥३२॥
धर्म युक्त संग्राम, यदी तू नहीं करेगा ।
स्वधर्म सुकीर्ति खोय, पाप में अवशि परेगा ॥३३॥

जो अर्जुन अपकीर्ति, होय दुनियां के माहीं ।
है जीना बेकार, सभ्य पुरुषों के ताहीं ॥३४॥
जिनका तू अब बहुत, मान्यवर होकर अर्जुन ।
तुच्छपने को प्राप्त, होयगा ये निश्चय सुन ॥
वे ही योधा लोग, तुझे कायर मानेंगे ।
लड़ने से डर गया, इस तरह सब जानेंगे ॥३५॥

वे तेरे वीरत्व, धर्म की करें बुराई ।
नहिं कहने के योग्य, वचन भी तुम्हें सुनाई ॥

यासे बढ़कर दुःख, और क्या होगा भारी ।
हे अर्जुन सच मान, वचन मेरा हितकारी ॥३६॥

इससे तो अब तुम्हें, युद्ध करना ही अच्छा ।
अधीरता को तजो, करो मत दिल को कच्चा ॥
जो कहिं मारा जाय; स्वर्ग की प्राप्ती होगी ।
यदपि जीत भी जाय, बनै पृथ्वी का भोगी ॥
हे भारत इसलिये, युद्ध को तत्पर होजा ।
है इसमें ही सार, कर्म पर निर्भर होजा ॥३७॥

राज्य भोग पुनि स्वर्ग, यदी तुम नहीं चहाते ।
तो फिर ऐसा करो, दूसरा यत्न बताते ॥
लाभ हानि सुख दुःख, बराबर समझ लीजिये ।
हार जीत की ओर, ध्यान भी मती दीजिये ॥
इस प्रकार के युद्ध, किये से पाप नहीं है ।
हो जाओ तैयार, देर का काम नहीं है ॥३८॥

ज्ञान योग के विषै, बुद्धि को वर्णन कीन्हों ।
अब आगे निष्काम, योग की बुद्धी चीन्हों ॥
जिस बुद्धी के साथ, कर्म बन्धन मिट जाते ।
अच्छी तरह विचार, उसे तुमको समझाते ॥३९॥

निष्कर्मों के माहिं, बीच का नाश नहीं है ।
है जिसमें फल रूप, दोष भी तनिक नहीं है ॥
थोड़ा ही निष्काम, धर्म का साधन कैसे ।
कर देता उद्धार, मरण जीवन के भय से ॥४०॥

हे अर्जुन कल्यान, मार्ग कितना अति सुन्दर ।
निश्चयात्मक बुद्धि, एक ही जिसके अन्दर ॥

मूढ़ जनों की बुद्धि, अनेकों भेदों वाली।
चञ्चल चपल महान्, नहीं थिर रहने वाली ॥४१॥
हृदय सका भी पुरुष, फलों को रखने वाले।
स्वर्गहि को वे परम, श्रेष्ठ बतलाने वाले॥
यों अज्ञानी मूढ़, इस तरह कहें सदाहीं।
इससे बढ़कर और, कहीं दूजा सुख नाहीं॥४२॥

जन्म रूप पुनि कर्म, फलों के देने वाली।
जो ऐश्वर्य भोग, प्राप्ति पुनि करने वाली॥
और बहुत सी क्रिया, अनेकों होने वाली।
हैं सब मिथ्या रूप, एक दिन खोने वाली॥
इस प्रकार की क्रिया, दिखाऊ शोभा नीकी।
लखो रीत विपरीत, वेद पुष्पित वानी की॥४३॥

उस वाणी से चित्त, जिन्होंके डसे हुए हैं।
ऐश्वर्य भोगादि, विषय में फँसे हुए हैं॥
जिनके अन्तःकरण, मलिनता भरी हुई है।
निश्चयात्मक नहीं, बुद्धि यों गिरी हुई है॥४४॥

हे अर्जुन सब वेद, तीन गुण माँहि जानिये।
इनका ही संसार, सकल उत्पन्न मानिये॥
संसारी मत बनों, बनों निष्कामी पूरे।
सुख दुःखादिक द्वन्द, इनहुँसे बचिये दूरे॥
योग क्षेम की नहीं, चाहना करनी चहिये।
नित्य आत्मा विषै, धारणा रखनी चहिये॥४५॥

बड़ा जलाशय मिलै, मनुष को पूरा जबही।
हो जाते हैं काम, उस विषै सबके सबही॥

थोड़े जल के विषै, प्रयोजन है जितना ही ।
ब्राह्मण का भी वेद, विषै कारण उतना ही ॥
ओछे जल के मध्य, काम सब नहिं बन सकते ।
न्हाना अथवा वस्त्र, और पी भी नहिं सकते ॥
बड़े जलाशय विषै, काम सब बन पाते हैं ।
न्हावें अथवा पियें, वस्त्र भी धुल जाते हैं ॥
इसी भांति आनन्द, ब्रह्म में लेने वाले ।
वेदों का वे नहीं, आश्रय रखने वाले ॥४६॥

है निश्चय अधिकार, कर्म करने का तुमको ।
पर इच्छा मत करो, मिलै फल आगे उसको ॥४७॥
हे अर्जुन आसक्ति, त्याग पुनि मन को बस कर ।
सिद्धि असिद्धी विषै, बुद्धि को समान रख कर ॥
योग विषै मन राख, कर्म को करना चहिये ।
समत्व भावहि योग, नाम द्वारा उच्चरिये ॥४८॥

तत्व रूप पुनि बुद्धि, बड़ी उत्तम दरसाई ।
पुरुष सकामी तुच्छ, गती जिसकी लख पाई ॥
हे पारथ इसलिये, कहा मेरा अब कीजे ।
समत्व रूपहि बुद्धि, योग का आश्रय लीजे ॥
कर्म फलों के लिये, पुरुष चिन्ता में परता ।
रहता है आधीन, दीनता धारण करता ॥४९॥

तत्व बुद्धि से युक्त, पुरुष कैसा होता है ।
पुनि आगे के लिये, बीज वह नहिं बोता है ॥
इसी लोक के मध्य, निवृती हो लेता है ।
पाप पुण्य के लिये, मूल से खो देता है ॥

होता नहिं है लिप्त, किसी कामों में वह नर।
उसी बुद्धि के लिये, चेष्टा तू निश्चय कर॥
समत्व रूपहि योग, कर्म की चातुरता है।
बन्धन से छुट जाय, यही इक उदारता है॥५०॥

बुद्धि योग से युक्त, महात्मा जन ज्ञानी तो।
कर्मों से उत्पन्न, होय फल जितने भी तो॥
देते उनको त्याग, जन्म बन्धन से छूटें।
होकर के निर्द्वन्द, परम पद अमृत लूटें॥५१॥

हे भारत! जिस समय, बुद्धि तेरी ठहरावे।
मोह रूप दलदलहि, पार बिल्कुल कर जावे॥
जब तू सुनने योग्य, सुने के योग्य होयगा।
परम श्रेष्ठ वैराग्य, प्राप्त भी तभी होयगा॥५२॥

हे अर्जुन ये बुद्धि, अनेकों बातों करके।
विचलित हुई महान, मोह चक्कर में परके॥
ईश्वर में जब ठहर, जायगी बुद्धि तुम्हारी।
समत्व योग का बने, जबहिं पूरा अधिकारी॥५३॥

इस प्रकार भगवान्, कृष्ण के वचन सुने जब।
अर्जुन कहने लगा, नाथ सुनिये मेरी अब॥
हे केशव अब मुझे, समाधि का भेद बताओ।
थिर बुद्धी के और, सकल लक्षण समझाओ॥
उसको अच्छी तरह, भली विधि करिये वर्णन।
बोलै बैठे चलै, किस तरह है वो भगवन्॥५४॥
फिर इसके उपरान्त, कृष्ण ने वचन उचारा।
था अर्जुन का प्रश्न, किया जिसका निरधारा॥

हे पारथ जिस समय, सभी इच्छायें मनकी ।
हो जाती हैं दूर, ज्ञान के द्वारा जिनकी ।।
अपने आपहि मांहि, आत्मा रमने वाला ।
रहता है सन्तुष्ट, वही थिर बुद्धी वाला ।।५५।।

दुःखों का उद्वेग, उन्हों को नहीं सताता ।
अथवा सुख के साथ, हर्ष भी नहिं उपजाता ।।
और राग भय क्रोध, जिन्हों के नष्ट भये हैं ।
ऐसे मुनी पवित्र, बड़े थिर बुद्धि कहे हैं ।।५६।।

अशुभ कर्म फल प्राप्त, हुए पर दुःख नहीं है ।
अथवा शुभ कर्त्तव्य, विषै भी हर्ष नहीं है ।।
नहिं करता अस्नेह, किसी से ऐसा प्राणी ।
प्रसन्न आपहि आप, वही थिर बुद्धी ज्ञानी ।।५७।।

अंगों को जिस तरह, कांछुआ समेट लेता ।
इसी भांति बुध पुरुष, इन्द्रियें बस कर लेता ।।
नहिं विषयों की ओर, इन्द्रियें जातीं जिनकी ।
हे अर्जुन सुख रूप, बुद्धि थिर समझो उनकी ।।५८।।

यदपि इन्द्रिय विषय, जिन्हों के मिट भी जाते ।
किन्तु हृदय के राग, उन्हों के मिट नहिं पाते ।।
है उत्तम थिर बुद्धि, राग नहिं उपजै जिनको ।
ईश्वर भी साक्षात्, रूप हो जाता उनको ।।५९।।

हे भारत जो यत्न, अनेकन करने हारे ।
उनमें कोई सफल, होंय ईश्वर के प्यारे ।।
हैं इन्द्रिय बलवान, प्रमथ चित स्वभाव वालीं ।
ज्ञानी के हू हृदय, क्षोभ पहुँचाने वालीं ।।६०।।

हे अर्जुन समचित्त, मनुष को रहना चहिये।
सब इन्द्रिन को जीत, शरण मम गहना चहिये॥
जिसने सबकी सबहि, इन्द्रियाँ बस में कीन्हीं।
उनकी ही थिर बुद्धि, अचल पुनि निर्मल चीन्हीं॥६१॥

हे भारत मन सहित, इन्द्रियें बस करने से।
लई न मेरी शरण, रहे वे विमुखपने से॥
वो मन विषियों ओर, चिंतवन करने हारा।
होता है आसक्त, उन्हों में रमने वारा॥
असक्तता को पाय, कामना हृदय समाती।
जो पूरी नहिं होंय, क्रोध ज्वाला उपजाती॥६२॥

क्रोध अग्नि से प्रबल, मूढता उतपति होती।
जिससे सुमरन शक्ति, बुद्धि की जड़ से खोती॥
स्मृति भ्रमित होजाय, ज्ञान ढूढें नहिं पावे।
फिर इसके उपरान्त, श्रेय साधन मिट जावे॥६३॥

जिसका अन्तःकरण, सुहद स्वाधीन सुहाया।
राग द्वेष से रहित, वही सतपुरुष कहाया॥
अपने बस की हुई, इन्द्रियें भोगन हारा।
प्रसन्न अन्तःकरण, स्वच्छता रखने वारा॥६४॥

निर्मलता को प्राप्त, हुए पर दुःख न कोई।
रहता चित्त प्रसन्न, बुद्धि थिर उसकी होई॥६५॥

बिन साधन के पुरुष, वृथा जीवन को खोवे।
उसके अन्तःकरण; श्रेष्ठ बुद्धी नहिं होवे॥
अथवा आस्तिक भाव, उन्होंके तनिक नहीं है।
बिन आस्तिकता हुए, जिन्हें सुखशान्ति नहीं है॥६६॥

जैसे जल में नाव, पवन द्वारा झक झोले ।
वैसे ही मन संग, संग इन्द्रिन के डोले ॥
किसी विषय में अधिक, इन्द्रिय चित देती है ।
वही इन्द्रिय एक, बुद्धि को हर लेती है ॥६७॥

हे अर्जुन जो पुरुष, सबहि इन्द्रिन को बसकर ।
हो विषियों से विमुख, बुद्धि को राखे थिर कर ॥६८॥

हे भारत सम्पूर्ण, जीव जिसमें सोते हैं ।
उस रात्री में भक्त, नहीं मोहित होते हैं ॥
नित्य शुद्ध निज आत्म, तत्व को लखने वाला ।
ऐसा योगी राज, हमेशा जगने वाला ॥
क्षण भंगुर संसार, सुखन में जगते प्राणी ।
मुनियों ने तो घोर, निशा वोही कर मानी ॥६९॥

नदियों का जल सिमिट, सिन्धु में जाकर डटता ।
किंतु अचल परिपूर्ण, सिंधु पथ से नहिं हटता ॥
ऐसे ही थिर बुद्धि, पुरुष की अति गहराई ।
संपूरण भोगादि, उस विषै जायँ समाई ॥
कोई उन्हें विकार, भोग वे नहिं उपजाते ।
निश्चय परम पवित्र, शांति को वे ही पाते ॥
ऐसे पुरुष महान्, सिन्धु सम हैं उपकारी ।
जो भोगों को चहैं, शांति के नहिं अधिकारी ॥७०॥

सकल कामना त्याग, और ममता को तोड़ी ।
अहंकार से रहित, किन्तु इच्छा भी छोड़ी ॥
इस प्रकार से पुरुष, बर्तता है जग माँही ।
निश्चय करके मिलै, शान्ति पुनि उसके ताँहीं ॥७१॥

हे अर्जुन यह ब्रह्म, प्राप्त पुरुषों की रहनी।
खांडेहू से कठिन, धार जिसकी अति पहनी॥
जिसे प्राप्त यह होय, कभी मोहित नहिं होता।
रहै ब्रह्म में मगन, हमेशा जगता सोता॥
अंत समय भी शुद्ध, ज्ञान रहता है जिसको।
ब्रह्मानंद महान, प्राप्त होता है तिसको॥७२॥

ॐ श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे सांख्य योगोनाम।
द्वितीय अध्याय सम्पूर्णम्।

* अथ तीसरा अध्याय *

ज्ञान योग यज्ञादि की, क्रिया कथी विस्तार।
प्रेमी लछमण दास ने, कर्म योग का सार॥

सुनकर ज्ञान महत्व, हृदय में संशय छाया।
अर्जुन ने फिर इसी, बात पर प्रश्न उठाया॥
हे केशव तुम ज्ञान, कर्म से श्रेष्ठ बताते।
तो मुझसे भय रूप, कर्म ये क्यों करवाते॥ १॥

मिले हुये से वचन, आपके जान परैं हैं।
हे भगवन् वे वचन, बुद्धि को भ्रमित करैं हैं॥
इससे निश्चित एक, बात मुझको बतलाओ।
जिससे हो कल्याण, प्राप्त सो ही समझाओ॥ २॥
सुन अर्जुन की बात, कृष्ण बोले मुसकाकर।
हे अर्जुन प्रिय मित्र, सुनो अब ध्यान लगाकर॥
मानी हैं इस लोक, विषै दो निष्ठा बढ़कर।
जिसको अच्छी तरह, समझ तू दिल में दृढ़कर॥
ज्ञान योग तो ज्ञान, योगियों को बतलाया।
दूजा पुनि निष्काम, योग योगी को भाया॥

सच्चिद घन आनंद, ब्रह्म सरवत्र समाया ।
असत दुःख जड़ रूप, दृष्य से परे बताया ॥
हे वो साक्षीरूप, अचल द्दष्टा अविनाशी ।
अज अद्वैत अखंड, अनादी घट घट वासी ॥
वो ही तेरा रूप, शुद्ध चेतन माना है ।
अपने ही में देख, दूर कहिं नहिं जाना है ॥
मूर्ति मान ये जगत्, असत माया का जाला ।
उसमें चेतन शक्ति, तुही है प्रकाश वाला ॥
बाजीगर जिस तरह, अनेकों खेल रचै है ।
परन्तु उसके विषै, कभी वह नहीं फंसै है ॥
जिसके द्वारा रचा, खेल वह सत्य नहीं है ।
इसीलिये उस विषै, तनिक भी मोह नहीं है ॥
हे भारत ये ज्ञान, योग को वर्णन कीन्हों ।
कर तब कुछ मत करो, आप को आपहि चीन्हों ॥
अब आगे निष्काम, योग को भी सुन लीजे ।
जिसको अच्छी तरह, हृदय में धारण कीजे ॥
असक्ति पने को त्याग, शुभा शुभ कर्म करै है ।
जिसका फल सुख दुःख, पायकर नहीं डरै है ॥
यों योगी कर कर्म, ईश्वरहि अर्पण करदे ।
खुद करता नहिं बनै, उसी के ऊपर धरदे ॥
तैंने ही सब किया, किया मैंने कुछ नाहीं ।
इस प्रकार का भाव, अचल राखे मन मांहीं ॥
ऐसा करता हुआ, ज्ञान योगी बन जाता ।
अपने को पहिचान, आप में आप समाता ॥ ३ ॥

हे पारथ ये किसी, मार्ग से स्वरूप द्वारा ।
कर्मों से इस देह, विषै नहिं हो छुटकारा ॥
कर्म त्याग भी देय, मिलै नहिं ईश्वर जिसको ।
फिर सिद्धी भी प्राप्त, कभी नहिं होती उसको ॥ ४ ॥

तथा सर्वथा त्याग, कर्म का नहिं वन सकता ।
च्णभर भी वह पुरुष, कर्म बिन रह नहिं सकता ॥
सब जीवों के लिये, प्रकृति उत्पन्न करै है ।
यों पर बस हो पुरुष, गुणों से बँधा फिरै है ॥ ५ ॥

हठ करके जो पुरुष, इन्द्रियें बस करता है ।
पर भोगों की ओर, चिंतवन में परता है ॥
ऐसा मिथ्या चार, महा दम्भी बतलाया ।
इन्द्रिन को बस करै, किन्तु मन नहिं रुक पाया ॥ ६ ॥

मन करके जो पुरुष, इन्द्रियें बस कर लेता ।
अनासक्ति पुनि हुआ, उन्हों में चित नहिं देता ॥
उन इन्द्रिन से कर्म, योग करना ही अच्छा ।
वो ही योगी राज, योग मारग में सच्चा ॥ ७ ॥

शास्त्र नियत जो कर्म, स्वधर्महि धर्म कहाये ।
वे ही करने योग्य, श्रेष्ठ सत कर्म बताये ॥
शरीर का निर्वाह, कर्म बिन नहीं लखाया ।
हे अर्जुन यह अटल, सत्य सिद्धान्त बताया ॥ ८ ॥

बन्धन का भय समझ, कर्म को खोय बैठते ।
स्वर्गों के भी भोग, हाथ से धोय बैठते ॥
यज्ञादिक शुभ कर्म, विष्णु पद अर्पण लायक ।
इनसे दूजे कर्म, सभी बन्धन के दायक ॥

हे भारत आसक्ति, त्याग कर कर्म करो तुम ।
परमेश्वर के निमित, शुद्ध आचरण करो तुम ॥ ६ ॥

हे अर्जुन बिन कर्म, पाप लगता है भारी ।
इसीलिये कर कर्म, कही तू मान हमारी ॥
ब्रह्मा ने यह प्रजा, यज्ञ के सहित रचाई ।
और साथ ही साथ, नीति का वचन सुनाई ॥
इन यज्ञों से तुम्हें, वृद्धि की प्राप्ति होयगी ।
और कठिन से कठिन, कामना सिद्ध होयगी ॥१०॥

और आप सब लोग, यज्ञ द्वारा देवन को ।
पूजिय भली प्रकार, वेद मंत्रन से उनको ॥
तब वे देव महान, उन्नती करें तुम्हारी ।
रहै परस्पर भाव, बना दोउन में भारी ॥
ऐसा करते हुये, परम आनन्द होयगा ।
किसी तरह का दुःख, किसी को नहीं होयगा ॥११॥

उन यज्ञों से देव, होंयगे प्रसन्न तबही ।
बिन मांगे ही भोग, मिलेंगे सबके सबही ॥
उन भोगों के बिना, किये अर्पण भोगे नर ।
है निश्चय ही चोर, देवताओं का वो नर ॥१२॥

बचे यज्ञ से शेष, अन्न को जो पाते हैं ।
ऐसे उत्तम पुरुष, पाप से छुट जाते हैं ॥
तन पोषण जो लोग, आपके लिए पकाते ।
वे तो पापी पुरुष, पाप को ही पुनि खाते ॥१३॥

जो सम्पूरण जीव, अन्न से उतपति जानो ।
और अन्न उत्पन्न, वृष्टि द्वारा पहिचानो ॥

वृष्टि यज्ञ से होय, यज्ञ कर्मों के द्वारा।
ये ही नीति अनूप, एक का एक सहारा ॥१४॥

तथा कर्म उत्पन्न, वेद से हुआ जानिये।
और वेद भी प्रगट, ब्रह्म से हुआ मानिये॥
अविनाशी पर ब्रह्म, सबहि को लखने वाला।
वही यज्ञ में सदा, प्रतिष्ठित रहने वाला ॥१५॥

सृष्टि चक्र अनुकूल, पुरुष जो चलै नहीं है।
और शास्त्र से युक्त, कर्म भी करै नहीं है॥
वे इन्द्रिन के भोग, भोगने वाले प्राणी।
उनकी तो पापायु, जिन्दगी वृथा बखानी ॥१६॥

हे अर्जुन जो प्रीति, आत्मा से ही रखता।
होकर के संतुष्ट, हृदय को प्रसन्न रखता॥
ऐसा पुरुष महान, किसी से डरै नहीं है।
फिर कोई कर्त्तव्य, शुभाशुभ करै नहीं है ॥१७॥

ऐसा ज्ञानी पुरुष, कर्म से नहिं बँधता है।
किसी तरह का स्वार्थ, किसी से नहिं रखता है॥
तो भी जग के हेत, कर्म करता है सुन्दर।
उसे प्रयोजन नहीं, कोइ दुनियाँ के अन्दर ॥१८॥

इसी बात को सोच, वचन मेरा सुनकर तू।
अनासक्त पुनि हुआ, कर्म को निश्चय कर तू॥
अनइच्छित पुनि हुआ, कर्म का करने वाला।
ईश्वर को वह प्राप्त, अवशि हो जाने वाला ॥१९॥

असक्तता से रहित, नृपति जनकादिक ज्ञानी।
जिन्हें सिद्धि पुनि प्राप्त, कर्म द्वारा ही मानी॥

इसी लिये हे पार्थ, लोक संग्रह को लखकर ।
निश्चय ही कर कर्म, भूल इसमें तू मत कर ॥
होते हैं आचरण, श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा ।
उनके ही अनुसार, जगत ये चलने हारा ॥
जो भी कुछ वर्ताव, सभ्यजन करने लगते ।
उनके ही अनुकूल, लोग सब चलने लगते ॥२१॥

हे अर्जुन सच मान, लोक तीनों के मांही ।
कोई भी कर्त्तव्य, मुझे करने को नाहीं ॥२२॥

सब कुछ मेरे लिये, प्राप्त दुनियाँ के अन्दर ।
तो भी पुनि सत कर्म, बर्तता हूँ मैं सुन्दर ॥
जो मैं अच्छी तरह, कर्म नहिं बरतूं जग में ।
जैसा भी मैं करूँ, करै वैसा ही संग में ॥२३॥

यदपि कर्म नहिं करूं, भ्रष्ट सब लोक होंयगे ।
वरण संकरादिकहिं, दोष सब मुझे होंयगे ॥
फिर तो सारी प्रजा, नष्ट होवे हे अर्जुन ।
उसका मारन हार, बनूंगा मैं हे अर्जुन ॥२४॥

असक्तता से बँधा, कर्म करता अज्ञानी ।
अनासक्त पुनि कर्म, करै है उत्तम ज्ञानी ॥
ज्ञानी जन का कर्म, लोक शिक्षा के तांईं ।
किसी तरह का निजी, प्रयोजन रखता नाहीं ॥२५॥

विद्वानों के लिये, इस तरह रहना चहिये ।
मूढ जनों की बुद्धि, भ्रमित नहिं करना चहिये ॥
उनके कर्मों विषै, अश्रद्धा नहिं उपजावै ।
स्वयं आप भी करै, और उनसे करवावै ॥२६॥

हे भारत सम्पूर्ण, कर्म गुण प्रकृती द्वारा।
होते हैं उत्पन्न, इन्हीं का जगत पसारा॥
अहङ्कार ने शुद्ध, हृदय को भ्रमित किया है।
करता हूँ मैं कर्म, इस तरह मान लिया है॥२७॥

गुण विभाग पुनि कर्म, तत्व को जानन हारा।
वो ही ज्ञानी पुरुष, आपको जाने न्यारा॥
हे अर्जुन सब कर्म, गुणहिं गुण में बर्ताते।
इस प्रकार से जान, कर्म से नहिं बँध पाते॥२८॥

प्रकती के गुण मूढ़, जनों को मोहित करते।
असक्तता को पाय, कर्म बन्धन में परते॥
फिर भी उनको कभी, नहीं बहकाना चहिये।
कर्मों का उपदेश, उन्हें समझाना चहिये॥२९॥

हे पारथ अब ध्यान, निष्ठ से सकल कर्म को।
करिये भली प्रकार, उसे तुम अर्पण मुझको॥
हे अर्जुन इस तरह, युद्ध को अब निश्चय कर।
आशा ममता रहित, और सन्ताप त्याग कर॥३०॥

हे भारत जो दोष, बुद्धि से रहित होगया।
पुनि श्रद्धा से युक्त, ज्ञान से मोह खो गया॥
मेरे मत अनुकूल, इस तरह चलने हारा।
कर्मों से वह पुरुष, अवशि पावे छुटकारा॥३१॥

हे अर्जुन जो दोष, दृष्टि वाले अज्ञानी।
मेरे मत अनुसार, नहीं चलते हैं प्राणी।
जिनके चित सम्पूर्ण, ज्ञान से मोहित जानो।
उनको तुम कल्यान, मार्ग से भ्रष्टहि मानो॥३२॥

सबहि जीव पुनि प्रकृति, प्राप्त होते हैं अर्जुन।
निज स्वभाव बस हुए, कर्म करते हैं अर्जुन ॥
उसी प्रकृति अनुसार, चेष्टा करते ज्ञानी।
फिर इसमें बेसमझ, वृथा हट करते प्रानी ॥३३॥

इन्द्रिन के जो भोग, राग दोषादिक जिसमें।
ये ही दुख के रूप, जान निश्चय कर इसमें ॥
दोनों ही कल्यान, मार्ग में विघन मचाते।
इनको तुम बस करो, महा शत्रु हि कहलाते ॥३४॥

स्वधर्म का आचरण, करेगा हे अर्जुन तू।
इसमें ही कल्यान, समझ तेरा निश्चय तू ॥
हे भारत गुण रहित, धर्म अपना ही सच्चा।
अन्य धर्म भय रूप, भलहि कितना भी अच्छा ॥३५॥

फिर अर्जुन ने इसी, बात पर प्रश्न उठाया।
हे भगवन वह पुरुष, कहो किसने बहकाया ॥
पापों का आचरण, कौन करवाता जबरन्।
इसका उत्तर मुझे, प्रेम से दीजै भगवन् ॥३६॥

सुनकर के भगवान्, कृष्ण ने उत्तर दीन्हों।
हे अर्जुन ये काम, क्रोध दो वैरी चीन्हों ॥
ये पापात्म महान, रजो गुण से उपजाते।
हैं ये अग्नि समान, भोग से नहीं अघाते ॥३७॥

जिस प्रकार से धुआं, अग्नि को ढक लेता है।
दर्पण को भी मैल, मलिन पुनि कर देता है ॥
इसी तरह से गर्भ, जेर से छिपा हुआ है।
वैसे ही यह ज्ञान, काम से ढका हुआ है ॥३८॥

हे पारथ यह काम, अग्नि के तदवद जानों।
नहीं होय सन्तुष्ट, भोग से निश्चय मानों॥
ये ही बैरी नित्य, संग में लगा हुआ है।
हे अर्जुन वह ज्ञान, इसी ने ग्रसा हुआ है॥३६॥

मन इन्द्रिन के विषै, काम का वास बताया।
इनके द्वारा शुद्ध, ज्ञान पर परदा छाया॥
हे भारत ये काम, जीव को मोहित करता।
तथा चित्त मन बुद्धि, और इन्द्रिन को हरता॥४०॥

इन्द्रिन को बस करो, और मन को भी दृढ़कर।
अच्छी तरह विचार, बुद्धि को भी निश्चल कर॥
ज्ञान और विज्ञान, तत्त्व को मेटन हारो।
हे अर्जुन ये काम, इसे तुम अवश्य मारो॥
यदि तू ऐसा कहे, काम मुझसे नहिं मरता।
सो तो निज सारांश, समझ तेरे नहिं परता॥४१॥

हे पारथ ये देह, पञ्च तत्त्वों की जानों।
इससे इन्द्रिय परै, बड़ी सूक्ष्म पहिचानों॥
इन्द्रिन से मन दूर, बुद्धि मन परै मानिये।
बुद्धी से भी दूर, आत्मा दिव्य जानिये॥४२॥

इस प्रकार बलवान, बुद्धि से परे आत्मा।
निर्गुण सूक्ष्म तत्त्व, जानिये श्रेष्ठ आत्मा॥
किन्तु बुद्धि के साथ, समझ मनको बस करिये।
दुष्ट काम को मार, जगत में अभय विचरिये॥४३॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्री कृष्णार्जुन सम्वादे।
कर्म योगनाम् तृतीयोध्याय सम्पूर्णम्॥

* चौथा अध्याय *

पुनि चतुर्थ अध्यांय मैं, ज्ञान कर्म, सन्यास ।
कथन प्रेम संयुत किया, प्रेमी लक्ष्मण दास ॥

श्री भगवान—कहते हैं :—

हे अर्जुन यह योग, सनातन से चलि आया ।
पहिले मैंने इसे, सूर्य देवहि समझाया ॥
सूरज ने निज पुत्र, मनू के लिये सुनाया ।
मनु से पुनि इक्ष्वाकु, नृपति ने भी यह पाया ॥ १ ॥
इस प्रकार का योग, सनातन ही का माना ।
जिस को अच्छी तरह, राज ऋषियों ने जाना ॥
उसी योग के लिये, समय अब बहुत खोगया ।
इसी लिये यह योग, यहाँ पर लोप होगया ॥ २ ॥
वही पुरातन योग, सुनाया मैंने तुमको ।
सखा और प्रिय भक्त, समझ कर पूरे तुमको ॥
हे भारत यह रहस्य, बड़ा उत्तम कहलाया ।
जिसको सब नहिं जान, मर्म का विषय बताया ॥ ३ ॥
इस प्रकार भगवान्, कृष्ण के वचन श्रवण कर ।
अर्जुन कहने लगा, प्रेम से हाथ जोड़ कर ॥
हे मधु सूदन जन्म, आपका अभी हुआ है ।
सूरज का तो जन्म, पुराना सुना हुआ है ॥
फिर तुमने यह योग, उसे किस समय सुनाया ।
इसका मेरे हृदय, बहुत ही संशय छाया ॥ ४ ॥
लख कर संशय युक्त, कृष्ण मुसका कर बोले ।
हे भारत फिर सुनो, वचन मेरे अनमोले ॥

मेरे तेरे जन्म, बहुत से होगये अर्जुन ।
मुझको सब मालूम, तुम्हें नहिं मालुम अर्जुन ॥५॥

प्राकृत नर की तरह, जन्म मेरा मत जानो ।
पुनि अविनाशी रूप, अजन्मा मुझको मानो ॥
जितने भी ये जीव, सबों का ईश्वर मैं हूँ ।
प्रकृती को आधीन, हमेशां रखता मैं हूँ ॥
फिर भी मेरी शुद्ध, योग माया के द्वारा ।
होता है अवतार, जगत में दिव्य हमारा ॥ ६ ॥
होय धर्म की हानि, सकल सृष्टी में जबही ॥
बढ़ै अधर्म महान्, प्रगट होता हूँ तब ही ॥ ७ ॥

हे अर्जुन दुष्कृत्य, मनुष्यों के मारन को ।
युग युग में अवतार, होय याही कारन को ॥
साधुन का उद्धार, दुःख को नष्ट करूँ हूँ ।
धर्म स्थापन करूँ, सकल महि भार हरूं हूँ ॥ ८ ॥

हे पारथ मम जन्म, कर्म पुनि दिव्य मानिये ।
साधारण में नहीं, अलौकिक मुझे जानिये ॥
ऐसा मेरे लिये, जानता है जो कोई ।
फिर उसका नहिं जन्म, प्राप्त वह मुझको होई ॥ ९ ॥

इस प्रकार के पुरुष, प्रथम बहुतेरे होगये ।
राग और भय क्रोध, उन्हों के जड़ से खोगये ॥
प्रेम भक्ति को पाय, शरण मेरी में आकर ।
हुए पवित्र महान, ज्ञान तप को वे पाकर ॥१०॥
हे अर्जुन जो पुरुष, प्रेम से मुझको भजता ।
उसी तरह मैं भजूं, कभी नहिं उसको तजता ॥

इस प्रकार का रहस्य, जानने वाला ज्ञानी।
मेरे मत अनुसार, बर्तता है वह प्रानी ॥११॥

जो मुझको इस तरह, तत्व से नहिं पहिचाने।
कर्म फलों के लिये, देवताओं को माने ॥
कर्मों से उत्पन्न, शीघ्र सिद्धी मिल जाती।
मनुष लोक के विषै, बात यह पाई जाती ॥
परन्तु उनके लिए, प्राप्त मैं होता नाहीं।
इसीलिये हे पार्थ, राख मन मेरे मांही ॥१२॥

हे भारत गुण कर्म, विभागों द्वारा मैंने।
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शुद्र उपजाये मैंने ॥
उनका कर्त्ता मुझे, अकर्ता भी पहिचानों।
परमेश्वर परब्रह्म, अचल अविनाशी जानों ॥१३॥

कर्मों के फल विषै, वासना मैं नहिं रखता।
इसीलिये वह कर्म, बांध मुझको नहिं सकता ॥
ऐसा मेरा तत्व, जान लेता है जो जन।
उसको भी वे कर्म, कभी नहिं करते बन्धन ॥१४॥

प्रथम मुमुक्षू कर्म, जान करके ही कर गये।
असक्तता से रहित, हुए भव से वे तर गये ॥
इस प्रकार से समझ, कर्म करने से मत डर।
पूर्व जनों की भांति, कर्म को ही निश्चय कर ॥१५॥

क्या है कर्म अकर्म, भेद पुनि दर्शाता है।
ज्ञानी भी इस विषै, मोह में पड़ जाता है ॥
इसका अच्छी तरह, तत्व समझाऊं तुमको।
भव बन्धन मिट जाय, प्राप्त होवेगा मुझको ॥१६॥

अथवा कर्म अकर्म, समझ दोनों को लीजै ।
तृतिये कर्म निषेध, ध्यान उस पर भी दीजै ॥
हे अर्जुन ये बड़ी, कर्म की गहन गती है ।
जो इसको ले समझ, उसी की दिव्य मती है ॥१७॥

अहंकार से रहित, चेष्टा करने वाला ।
करता ज्ञानी कर्म, सुखों के देने वाला ॥
होते कर्म निषेध, मूढ़ पुरुषों के द्वारा ।
जिसका फल अत्यन्त, दुःख मय जाय निहारा ॥
विज्ञानी के लिये, देह अभिमान नहीं है ।
कर्मों के फल विषै, ध्यान भी तनिक नहीं है ॥
इस प्रकार का पुरुष, महा ज्ञानी बतलाया ।
कर्म अकर्महि लखै, त्याग का त्याग सुहाया ॥१८॥

हे पारथ सम्पूर्ण, कामना जलकर जिसकी ।
होजाती हैं भस्म, ज्ञान-अगनी से उसकी ॥
इस प्रकार संकल्प, रहित होगये हैं प्रानी ।
उनहीं को हे पार्थ, समझ पंडित विज्ञानी ॥१९॥

हे अर्जुन जो पुरुष, आश्रय छोड़ जगत को ।
रहता है संतुष्ट, ध्यान में रख ईश्वर को ॥
कर्म फलों का संग, त्याग अभिमान हृदय को ।
करै भली विधि कर्म, अकरता समझ आपको ॥२०॥

जीता अन्तःकरण, और निज शरीर जिसने ।
त्यागीं हैं सम्पूर्ण, भोग सामग्री उसने ॥
आशाओं से रहित, देह से कर्म करै है ।
ऐसा करता हुआ, पाप में नहीं परै है ॥२१॥

अपने आपहि आप, रहै सन्तुष्ट उसी में।
हर्ष शोक ईर्षादि, मोह मत्सर नहिं मन में॥
सिद्धि असिद्धी विषै, समत्वइ भाव रखानें।
कर्मों को भी करै, किन्तु बन्धन नहिं मानें॥२२॥

असक्तता से रहित, ज्ञान में थिर चित वाले।
यज्ञों का आचरण, नियम से करने वाले॥
हे अर्जुन वे पुरुष, मुक्त रूपहि कहलाते।
आगे उनके कर्म, बीज को नहिं उपजाते॥२३॥

पुनि यज्ञों के विषै, अनेकन भाव जानिये।
श्रुवादिक भी ब्रह्म, ब्रह्म ही हविर मानिये॥
हवन योग्य जो द्रव्य, वस्तुऐं ब्रह्महि जानो।
जो भी होमा जाय, सभी को ब्रह्महि मानो॥
पुनि अगनी भी ब्रह्म, ब्रह्म ही यज्ञ करंता।
कर्म समाधी लीन, पुरुष भी ब्रह्म अनंता॥२४॥

जिसके द्वारा प्राप्त, योग ब्रह्महि दर्शाया।
इन यज्ञों का तत्व, और भी आगे पाया॥
दूजे योगी लोग, देवताओं को भजते।
पुनि पूजन भी करें, उसी को यज्ञ समझते॥२५॥

अथवा ज्ञानी पुरुष, ब्रह्म अगनी में अर्पण।
करते हैं वे यज्ञ, ब्रह्म को ब्रह्म समर्पण॥
हे भारत स्वाधीन, रूप अगनी के मांही।
कर देते हैं हवन, सकल इन्द्रिन के ताहीं॥२६॥

जो इन्द्रिन के लिये, आपने बस कर लेते।
विषयों से ही विमुख, उन्हों में चित नहिं देते॥

शब्दादिक जो विषय, मुख्य बतलाये सब में।
कर देते हैं हवन, अग्नि रूपी इन्द्रिन में॥
राग द्वेष से रहित, ग्रहण विषयों को करते।
ऐसे ज्ञानी पुरुष, भस्म भी उनको करते॥
प्राणों का व्योपार, और इन्द्रिन को बस कर।
ज्ञान प्रकाशित हुई, ब्रह्म में सब को लखकर॥
हे अर्जुन थित रूप, योग अगनी के मांही।
कर देते हैं हवन, चेष्टाओं के ताहीं॥२७॥

और दूसरे पुरुष, शुद्ध बुद्धी कर धारण।
करें द्रव्य का दान, लोक सेवा के कारण॥
स्वधर्म पालन रूप, तपस्या करते कोई।
कोई का अष्टांग, योग में साधन होई॥
कोई अहिंसा कठिन, व्रतों का करने वाला।
यत्न शील जो पुरुष, नाम का जपने वाला॥
कोई भगवत्प्राप्त, शास्त्र का ध्ययन सुहावे।
हे पारथ ये ज्ञान, नाम से यज्ञ कहावे॥२८॥

दूजे योगी लोग, प्राण वायू के ताँहीं।
ले जाते हैं उसे, खींचकर अपान मांही॥
अपान को भी इसी, भांति से ले लेते हैं।
पुनि प्राणों के विषै, हवन वे कर देते हैं॥
अथवा प्राण अपाण, गती दोनों की रोकें।
करते प्राणायाम, ध्यान में थिर चित होकें॥२९॥

जो सूक्षम आहार, नियम से करने वाले।
प्राणों में पुनि प्राण, हवन कर देने वाले॥

इस प्रकार के यज्ञ, पाप का नाश करैं हैं।
ऐसे ज्ञाता सबहि, यज्ञ के जान परैं हैं ॥३०॥

यज्ञों का परिणाम, रूप ज्ञानामृत भोगी।
ईश्वर को पुनि प्राप्त, वही होता है योगी॥
यज्ञ रहित जो पुरुष, बड़े दुखिया कहलाये।
उनको दोनों लोक, विषै नहिं सुख बतलाये॥ ३१॥

वेदों ने पुनि बहुत, तरह के यज्ञ कहे हैं।
सो इन्द्रिय मन देह, क्रिया से प्रगट भये हैं॥
इस प्रकार से तत्व, समझ निष्काम कर्म कर।
भव बन्धन छुटि जाय, मुक्त होवे निश्चय कर ॥३२॥

दुनिया भर की वस्तु, यज्ञ से प्राप्त जानिये।
उन यज्ञों में ज्ञान, यज्ञ पुनि श्रेष्ठ मानिये॥
जितने भी शुभ कर्म, ज्ञान द्वारा प्रगटाते।
पराकाष्टा ज्ञान मद्य, ही जाय समाते ॥३३॥

इसीलिये जो तत्व, जानने वाले जनको।
पूछिय भली प्रकार, दण्डवत् करिके उनको॥
अथवा सेवा करैं, कपट तजकर तन मन से।
इस प्रकार से ज्ञान, समझना चहिये उनसे॥
हे अर्जुन वे मर्म, जानने वाले ज्ञानी।
वे तुमको उपदेश, ज्ञान को करैं बखानी ॥३४॥

उसी ज्ञान से मोह, तुम्हारा अवशि हरैगा।
अनंत चेतन रूप, सब जगह जानि परैगा॥
अपने अंतर गतहि, समष्ठी बुद्धी द्वारा।
सब भूतों के विषै, लखोगे रूप तुम्हारा॥

फिर इसके उपरान्त, सच्चिदानन्द स्वरूपम् ।
लखौ एक ही भाव, आप में ब्रह्म अनूपम् ॥३५॥
यदि तू अर्जुन बहुत, पाप को करने हारा ।
तर जावेगा अवशि, ज्ञान नौका के द्वारा ॥३६॥

हे भारत प्रज्वलित, अग्नि जैसे ईंधन को ।
कर देता है भस्म, जला कर छिन में जिसको ॥
वैसे ही पुनि ज्ञान, रूप अगनी के द्वारा ।
हो जाते हैं कर्म, नाश जलिकर के चारा ॥३७॥
इसीलिये यह ज्ञान, महा उत्तम बतलाया ।
जिसके पटुतर और, जगत में कुछ नहिं पाया ॥
बहुत काल से ज्ञान, आप अपने में लखकर ।
समत्व रूप पुनि बुद्धि, योग के द्वारा रखकर ॥
पवित्र अन्तःकरण, हुआ योगी विचरै है ।
अपने आपहि मांहि, आत्म अनुभवहि करै है ॥३८॥

श्रद्धावान महान, इन्द्रिय जीत कहावे ।
हे अर्जुन वह पुरुष, ज्ञान को अवश्य पावे ॥
ईश्वर को भी प्राप्त, वही होता है ज्ञानी ।
और परम प्रिय शान्ति, उसी के हृदय बखानी ॥३६॥

भगवत का जो विषय, जानते नहिं हैं प्रानी ॥
हैं वे संशय युक्त, अश्रद्धा हृदय समानी ।
ऐसे जन परमार्थ, भ्रष्ट ही माने जाते ।
हे पारथ वे पुरुष, कहीं भी सुख नहिं पाते ॥४०॥

जो संशय लवलीन, बहुत ही हो जाते हैं ।
उनके दोनों लोक, हाथ से खो जाते हैं ॥

समत्व रूप पुनि बुद्धि, योग द्वारा ही जिनने ।
ईश्वर को कर दिये, कर्म सब अर्पण उनने ॥
उनके संशय सभी, ज्ञान द्वारा मिट जाते ।
ब्रह्म परायण हुये, कर्म से नहिं बँध पाते ॥४१॥

हे अर्जुन इसलिये, तत्व बुद्धी के द्वारा ।
दूर करो अज्ञान, इसी ने संशय डारा ॥
उस संशय के लिये, हृदय से बाहर करदो ।
ज्ञान रूप पुनि खड्ग, हाथ ले छेदन कर दो ॥
हे भारत निर्द्वन्द, हृदय होजाय तुम्हारा
उठो युद्ध के लिए, वचन अब मान हमारा ॥४२॥

ॐ श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे ज्ञान कर्म सन्यास
योगो नाम चतुर्थ अध्याय सम्पूर्णम्

पाँचवाँ अध्याय

रचि पंचम अध्याय में, कर्म योग सन्यास ।
प्रेमी लक्ष्मणदास को, कृष्णचन्द्र की आस ॥

पुनि अर्जुन ने कहा, कृष्ण को शीश नवाकर ।
हे मधुसूधन मुझे, कहो फिर से समझाकर ॥
कर्मों का सन्यास, और निष्काम योग की ।
करी प्रशंसा बहुत, कौन कारण दोउन की ॥
दोनों में से एक, चीज निश्चित कर लीजे ।
जिससे हो कल्यान, वही मुझसे कह दीजे ॥१॥

इस प्रकार का प्रश्न, श्रवण कर जब अर्जुन को ।
कृष्णचन्द्र मुसकाय, लगे समझाने उसको ॥

हे अर्जुन सन्यास, योग के लक्षण सुन अब।
मन इन्द्रिय पुनि देह, कर्म होते इन से सब ॥
उन कर्मों के विषै, अकरता जान आपको।
मैं कुछ करता नहीं, इस तरह समझ आपको ॥
अब अर्जुन निष्काम, योग साधन दरशाया।
समत्व बुद्धि के साथ, कर्म करना बतलाया ॥
उन कर्मों के लिये, करैं ईश्वर के अर्पण।
दोनों को कल्यान, मार्ग कहते हैं मुनिजन ॥
फिर भी दोनों विषै, श्रेष्ठ निष्काम दिखाता।
जिसका साधन सुगम, रूप से पाया जाता ॥ २ ॥

जिस प्राणी के लिये, रही नहिं इच्छा कोई।
वही पुरुष निष्काम, कर्म सन्यासी होई ॥
हे भारत रागादि, द्वेष से अलग हुआ है।
सुख में रहता हुआ, जगत से मुक्त हुआ है ॥ ३ ॥

हे अर्जुन सन्यास, और निष्काम योग को।
अलग अलग फलरूप, मूर्खही कहते इस को ॥
पंडित जन तो कभी, इस तरह नहिं कहते हैं।
दोनों एकहि रूप, समझ कर ही रहते हैं ॥
दोनों में से एक, सही सांचा सध जावे।
परमेश्वर फलरूप, प्राप्त उसको हो जावे ॥ ४ ॥

हे भारत जो धाम, ज्ञान योगी पाता है।
वही धाम निष्काम, कर्मकर मिल जाता है ॥
ज्ञान योग निष्काम, योग पर चलने वाले।
दोनों का फल एक, रूप से लखने वाले ॥ ५ ॥

हे अर्जुन निष्काम, कर्म बिन नहिं सन्यासी।
सब कर्मों के विषै, अकर्ता नहीं कहासी॥
इन्द्रिय मन पुनि देह, साथ सब कर्म करै है।
कर्तापन का त्याग, उन्हों में कठिन परै है॥
जो भगवत का मनन, हमेशा करने वाले।
वे ही हैं निष्काम, कर्म पर चलने वाले॥
हे पारथ ये मिली, अधिकता उनके माहीं।
हो जाते हैं शीघ्र, प्राप्त ईश्वर के ताहीं॥ ६॥

निज शरीर वस किया, और इन्द्रिन को बसकर।
विशुद्ध अन्तःकरण, हुआ ऐसा ज्ञानी नर॥
सब जीवों में आत्म, भाव पुनि एकहि रखता।
वही पुरुष निष्काम, कर्म करता नहिं बँधता॥ ७॥

हे अर्जुन जो तत्व, जानने वाला योगी।
सब इन्द्रिन के भोग, भोगता हुआ अभोगी॥
देखे सूँघै सुनै, और सुपरस भी करता।
भोजन अथवा गमन, और स्वांसों को भरता॥
सोता अरु पुनि ग्रहण, त्याग पुनि शब्द बोलता।
पुनि आखों के पलक, मींचता और खोलता॥ ८॥

इस प्रकार से सबहि, इन्द्रियां बर्तरहीं हैं।
निज निज अर्थों विषै, आपही विचर रही हैं॥
ज्ञानी इनके कभी, तनिक बस में नहिं रहता।
नहिं करता मैं कर्म, इस तरह से वह कहता॥ ९॥

है ये साधन कठिन, देह अभिमानी द्वारा।
किन्तु सुगम निष्काम, कर्म साधन अति प्यारा॥

आसक्ती को त्याग, कर्म करते हैं मुनि जन।
उन कर्मों के लिये, करें ईश्वर के अर्पन ॥
ऐसे ज्ञानी कमल, पत्र सम माने जाते।
जग में रहते हुए, पाप से नहीं बँधाते ॥१०॥

ममत्व बुद्धि से रहित, देह मन पुनि इन्द्रिन से।
आसक्ती को त्याग, कर्म करते हैं इन से ॥
केवल अन्तःकरण, शुद्ध होने के कारण।
करते हैं निष्काम, कर्म याही से धारण ॥
इसीलिये निष्काम, कर्म योगी कर्मन को।
फल को भली प्रकार, करे अर्पण ईश्वर को ॥
भगवत प्राप्ति स्वरूप, शांति पद को पाता है।
यों उत्तम निष्काम, योग माना जाता है ॥
और सकामी पुरुष, कर्म का करने वाला।
बँधता है फल विषै, कामना रखने वाला ॥१२॥

जिसने अन्तःकरण, अपना बस कर लीन्हा।
सांख्य योग का शुद्ध, आचरण उसने कीन्हा ॥
ऐसा ज्ञानी पुरुष, आप कुछ करै नहीं है।
औरों के भी लिये, आप कुछ कहै नहीं है ॥
नव द्वारों की देह, रूप घर में कर्मन को।
करता मनसे त्याग, इस तरह ज्ञानी इनको ॥
इन्द्रिय इन्द्रिन मांहि, आपही आप समझकर।
करती हैं वर्ताव, इस तरह जानि परस्पर ॥
ऐसा ज्ञानी पुरुष, ब्रह्म को अवशि प्राप्त कर।
सच्चिद घन परमात्म, रूप में रहै आप थिर ॥१३॥

परमेश्वर नहिं किसी, भूत प्राणी को करता ।
कर्मों के सुख दुःख, फलों को भी नहिं भरता ॥
ईश्वर शासन पाय, सबहि को प्रकृति रचंता ।
गुणहिं गुणों के मांहि, आपही आप करंता ॥१४॥

है ईश्वर सर्वत्र, आप नहिं करता धरता ।
पाप पुण्य का ग्रहण, किसी का भी नहिं करता ॥
माया द्वारा ज्ञान, उन्हों का ढका हुआ है ।
इसी लिये वह जीव, मोह से बँधा हुआ है ॥१५॥
जिसके अन्तःकरण, मूढ़ता छाय रही है ।
आत्म ज्ञान को पाय, उसी क्षण नाश भई है ॥
वही आत्मक ज्ञान, सूर्य सम पाया जाता ।
ईश्वर को भी वही, ज्ञान साक्षात् कराता ॥१६॥

है तन्मय मन बुद्धि, जिन्हों की प्रिय ईश्वर में ।
रहें निरन्तर भाव, एकही थिर ईश्वर में ॥
जिनके सबही पाप, मूल के सहित खोगये ।
ब्रह्म परायण हुए, परम गति प्राप्त होगये ॥१७॥

विद्या अथवा विनय, युक्त ज्ञानी कहलाते ।
सब जीवों के विषै, एक सम भाव लखाते ॥
गो ब्राह्मण पुनि श्वपच, और हाथी के अन्दर ।
कुत्ते में भी वही, आत्मा देखैं सुन्दर ॥१८॥

जिसने निज मन शुद्ध, भाव में लीन किया है ।
जीवित ही संसार, उसी ने जीत लिया है ॥
इसी अवस्था विषै, मुक्त रूपहि कहलाता ।
ईश्वर भी सम रूप, किन्तु निर्दोष सुहाता ॥

उसी रूप के विषै, आप आपा खोता है ।
सच्चिद घन आनन्द, ब्रह्म में लय होता हैं ॥१६॥
प्रिय वस्तू को पाय, हर्ष नहिं होता जिसको ।
और अप्रिय साथ, शोक नहिं होता उसको ॥
ऐसा संशय रहित, ब्रह्म वेता बुद्धी थिर ।
ईश्वर में ठहराय, भाव राखै एकहि फिर ॥२०॥

बाहर के जो विषय, उन्हों से चित्त हटावे ।
असक्तता को त्याग, भाव ईश्वर में लावे ॥
ध्यान जनित आनन्द, प्राप्त होता हैं उसको ।
है अखंड सुख रूप, बने नहिं कहना जिसको ॥
अनुभव आपहि करै, ठहर कर उसी ध्यान में ।
राखे एकहि भाव, सच्चिदानन्द ज्ञान में ॥२१॥

इन्द्रिन के संयोग, पायकर भोग उपजते ।
उनको विषयी पुरुष, बड़े सुख रूप समझते ॥
परन्तु वे सब भोग, दुःख के हेतू जानों ।
हैं असत्य तिहुँ काल, सत्य उनको मत मानों ॥
हे भारत इसलिये, विवेकी ज्ञानी इनमें ।
निः संदेह अनित्य, समझ नहिं रमते जिनमें ॥२२॥

हे अर्जुन जो देह, नाश होने के पहिले ।
काम क्रोध से प्रगट, हुए वेगों को सहिले ॥
काम क्रोध के लिये, सदा को जीत लिया है ।
है योगी वह सुखी, लोक में नाम किया है ॥२३॥

अन्तरात्मा विषै, सुखहि सुख दर्शाता है ।
उसी आत्मा मध्य, ज्ञान भी प्रकाशता है ॥

सब प्रकार आराम, आत्मा में मिलता है।
परमेश्वर के साथ, भाव एकहि रखता है॥
इस प्रकार का पुरुष, साँख्य योगी विज्ञानी।
शांत ब्रह्म को प्राप्त, वही होता है प्रानी॥२४॥

पाप नाश होगये, ज्ञान के द्वारा जिनके।
संशय भी पुनि दूर, हो गये सबहि उनके॥
सब जीवों के साथ, एक सा प्रेम करै हैं।
भगवत का एकाग्र, चित्त से ध्यान धरै हैं॥
इस प्रकार के पुरुष, ब्रह्म वेता कहलाते।
शान्त ब्रह्म को प्राप्त, हुए योगी सुख पाते॥२५॥

कामक्रोध से रहित, चित्त जीता है जिनने।
ईश्वर को साक्षात, प्राप्त कर लीना उनने॥
ऐसे ज्ञानी पुरुष, ब्रह्म सब ओर निहारें।
अपने आपहि माहिं, ब्रह्म ही ब्रह्म विचारे॥
बाहर के जो भोग, चिन्तवन उनका तजकर।
पुनि नेत्रों की दृष्टि, मध्य भ्रकुटी के रखकर॥
तथा नाशिका विषै, विचरने वाला वायू।
अथवा प्राण अपान, रखे सम दोनों वायू॥२७॥

इन्द्रिय मन पुनि बुद्धि, जीतने वाला प्रानी।
मोक्ष परायण हुआ, वही उत्तम मुनि ज्ञानी॥
इच्छा भय पुनि क्रोध, हृदय जिसके मत जानों।
हे पारथ वह पुरुष, सदा मुक्तहि पहिचानों॥२८॥

जो मेरे प्रिय भक्त, अनेकन यज्ञ तपों का।
समझैं भली प्रकार, भोगता मुझे उन्हों का॥

हे अर्जुन सम्पूर्ण, लोक लोकों का ईश्वर ।
सब जीवों का सुहृद, जान मुझको जगदीश्वर ।।
ऐसा तत्व पिछान, शान्ति को प्राप्त किया है ।
और सच्चिदानन्द, रूप को जान लिया है ।।
जिसको ब्रह्म सिवाय, और दृष्टी नहिं आता ।
वासुदेव ही रूप, उसे सब जगह लखाता ।।२६।।

ॐ श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्म सन्यास योगो नाम
पञ्चमो अध्याय सम्पूर्णम्

छटवाँ अध्याय

लिखा छटी अध्याय में, आत्म संयमी योग ।
प्रेमी लक्ष्मण दास के, कटे सकल भव रोग ।।

श्री भगवान् कहते हैं

हे अर्जुन जो पुरुष, फलों को नहीं चहाता ।
केवल करने योग्य, कर्म में चित्त लगाता ।।
वह सन्यासी पुरुष, वही योगी कहलाया ।
अग्नि और पुनि क्रिया, त्यागना नहीं बताया ।। १ ।।

इस प्रकार का पुरुष, परम योगी पहिचानों ।
संकल्पों का त्याग, बिना योगी मत जानों ।। २ ।।

समत्व रूप पुनि बुद्धि, योग की इच्छा वाले ।
मनन शील कर यत्न, योग को पाने वाले ।।
बुद्धि योग के विषै, कर्म करना ही हेतू ।
बिना कर्म नहिं योग, बात सुन मेरी ये तू ।।
योगारूढ़ महान, पुरुष का लक्ष्य यही है ।
संकल्पों का त्याग, मार्ग कल्याण यही है ।। ३ ।।

जिसका मन भोगादि, विषै आसक्त नहीं है।
कर्मों में भी उसै, लालसा तनिक नहीं है॥
ऐसा योगी पुरुष, सर्व संकल्प त्यागकर।
होता योगारूढ़, कर्म निष्काम साधकर॥ ४॥

इस प्रकार आरूढ, योग पर होजाता है।
वही पुरुष कल्याण, मार्ग को पा जाता है॥
ऐसा परम उपाय, पुरुष को करना चहिये।
इस दुस्तर संसार, सिंधु से तरना चहिये॥
अधोगती में नहीं, आत्मा को पहुँचावे।
अपने आपहि माहिं, शत्रु मित्रहि प्रगटावे॥
अपनी आत्म सिवाय, दूसरा मित्र नहीं है।
पुनि इसके उपरान्त, शत्रु भी कोइ नहीं है॥ ५॥

मन इन्द्रिय पुनि देह, जीत जिन लिया आपना।
वही आत्मा मित्र, परमप्रिय समझ आपना॥
जिनसे इन्द्रिय देह, और मन नहिं रुक पाया।
उनका तो वह आत्म, महा शत्रू बतलाया॥ ६॥

शर्द गर्म सुख दुःख, मान अपमान सहन कर।
पुनि अन्तस की मलिन, वृत्तियां सबहि दूर कर॥
यों निर्मल स्वाधीन, आत्मा मगन ध्यान में।
सच्चिद घन परमात्म, रहै थिर उसी ज्ञान में॥
इस प्रकार का ज्ञान, भेद को दूर करै है।
पुनि ईश्वरहि सिवाय, दृष्टि कुछ नहीं परै है॥ ७॥

उसके अन्तःकरण, विषै अज्ञान खो गया।
ज्ञान और विज्ञान, पायकर तृप्ति हो गया॥

जिसने अच्छी तरह, इन्द्रियें जीत लई हैं।
पुनि विकार के रहित, ब्रह्म में ठहर गई हैं॥
मिट्टी पत्थर एक, बराबर समझ लिया है।
सुवर्ण को भी इसी, भाँति ठुकराय दिया है॥
हे भारत वह पुरुष, युक्त योगी कहलाया।
भगवत को हो प्राप्त, परम जीवन फल पाया॥ ८॥

उदासीन पुनि मित्र, सुहृद वैरी के ताँही।
द्वेषी पुनि मध्यस्त, और बन्धुन के माँही॥
सज्जन अथवा दुष्ट, जनों में भाव एकही।
राखै भली प्रकार, वही अति श्रेष्ठ पुरुषही॥ ९॥

मन इन्द्रिय पुनि देह, जीतने वाला सोई।
सकल वासना रहित, करै संग्रह नहिं कोई॥
वह योगी एकान्त, निरन्तर ध्यान लगाता।
परमेश्वर के विषै, आत्मा को ठहराता॥१०॥

शुद्ध भूमि के विषै, कुशा मृग छाल बिछावे।
धुला हुआ भी वस्त्र, शुद्ध ही पाया जावे॥
अति ऊँचा नहिं होय, और नीचा भी नहिं हो।
इस प्रकार की भूमि, बराबर पर आसन हो॥११॥

उस आसन पर बैठ, दमन पुनि मन का करता।
चित्त वृतियाँ रोक, वेग इन्द्रिन का रहता॥
निर्मल अन्तस होय, धारणा यही धरै है।
इसीलिये वह पुरुष, योग अभ्यास करै है॥१२॥

पुनि ग्रीवा शिर देह, अचल सीधी धारणकर।
तथा नाशिका अग्र, भाग को देखे थिरकर॥

इस प्रकार का ध्यान, नाशिका पर ठहराता ।
अन्य दिशा की ओर, दृष्टि को नहीं घुमाता ॥१३॥
ब्रह्मचर्य में ठहर, और भय रहित जानिये ।
जिसका अन्तःकरण, शान्त से युक्त मानिये ॥
सावधान पुनि होय, किया मन जिनने बस में।
लगा दिया है दिव्य, चित्त भगवत चरणन में ॥
हे अर्जुन वे पुरुष, परायण मेरे होते ।
ऐसे जन संसार, मध्य खाते नहिं गोते ॥१४॥

इस प्रकार से आत्म, ठहर ईश्वर के मांही ।
मन को कर स्वाधीन, भटकता फिर कहिं नाहीं ॥
ऐसा योगी पुरुष, ठहर मुझ में जाता है ।
पराकाष्ठा रूप, शान्ति को भी पाता है ॥१५॥

हे पारथ यह योग, बहुत खाने से नहिं हो ।
जो बिल्कुल नहिं खाय, किन्तु उससे भी नहिं हो ॥
और उसे अत्यन्त, जागने पर नहिं आता ।
अथवा ज्यादा सयन, किये पर भी नहिं पाता ॥१६॥

करै दुखों का नाश, योग वह अति ही सुन्दर ।
पुनि आहार विहार, यथा विधि हो जिस अन्दर॥
कर्मों में भी योग्य, चेष्टा करने वाला ।
यथा योग्य कर शयन, योग्यही जगने वाला ॥
इसी न्याय अनुसार; साधना करता कोई ।
हे अर्जुन वह योग, सिद्ध उसका ही होई ॥१७॥

इस प्रकार अभ्यास, किये से चित्त रुकाता ।
उसी समय वह पुरुष, ठहर ईश्वर में जाता ॥

जिसी काल सम्पूर्ण, कामना नष्ट जानिये ।
इस प्रकार का पुरुष, योग से युक्त मानिये ॥१८॥
पवन रहित स्थान, विषै दीपक नहिं डुलता ।
इसी तरह से चित्त, नहीं ईश्वर से हटता ॥१६॥

इस प्रकार से पुरुष, योग अभ्यास साधकर ।
करके चित्त निरोध, लिया उपराम प्राप्त कर ॥
उसी अवस्था विषै, सूक्ष्म बुद्धी के द्वारा ।
ईश्वर को साक्षात्, रूप पुनि जाय निहारा ॥
सच्चिद घन आनंद, रूप परमेश्वर माहीं ।
रहैं ध्यान में मगन, और सन्तुष्ट सदा हीं ॥२०॥

पुनि इन्द्रिन से परै, सूक्ष्म बुद्धी से उसको ।
है अनन्त आनन्द, ग्रहण करता है जिसको ॥
ऐसा सुख निर्वाण, अकथ अनुभव दर्शावै ।
उस सुख से वह कभी, अलग नहिं होना चावै ॥२१॥

परमेश्वर की प्राप्ति, लाभ सम लाभ न कोई ।
कैसा भी दुख होय, किन्तु विचलित नहिं होई ॥
दुःख रूप संसार, सङ्ग से रहित जानिये ।
किंतु इसी का नाम, सुख मयी योग मानिये ॥२२॥
उसी योग के लिये, जानना चहिये तुमको ।
शुद्ध चित्त के साथ, साधना चहिये उसको ॥२३॥

होती हैं उत्पन्न, कामना संकल्पों कर ।
आसक्ती के सहित, उन्हीं को अवशि त्यागकर ॥
इन्द्रिन का समुदाय, भयानक कठिन दुधारा ।
चहुँ ओर से उसे, रोक तू मन के द्वारा ॥२४॥

क्रम क्रम से अभ्यास, किये उपराम प्राप्त हो।
पुनि धीरज से युक्त, बुद्धि द्वारा मन बस हो॥
वो मन ईश्वर माहिं, तुरत जाकर के ठहरत।
पुनि ईश्वरहिं सिवाय, और मन नहिं कहिं विचरत॥२५॥

जिसका मन बस नहीं, हुआ उसको ये चहिये।
थिर रहने का नहीं, बड़ा ही चञ्चल कहिये॥
यह मन बारम्बार, भटकता है विषियन में।
उनसे इसको रोक, लगा मेरे चरणन में॥२६॥

जिसका अच्छी तरह, रजोगुण खो जाता है।
पुनि पापों से रहित, शांत मन हो जाता है॥
सच्चिद घन आनन्द, ब्रह्म में भाव एक ही।
राखे भली प्रकार, परम आनन्द प्राप्त ही॥२७॥

पाप रहित पुनि हुआ, वही योगी कहलावे।
परमेश्वर के मांहि, आत्मा को ले जावे॥
पुनि ईश्वर की प्राप्ति, रूप आनन्द अनंता।
उसको अच्छी तरह, आप अनुभवहि करंता॥२८॥

अनन्त चेतन रूप, आत्म सर्वत्र लखाता।
भाव एकही समझ, उसी से चित्त लगाता॥
योग युक्त थिर रूप, वही योगी पहिचानो।
समान सब में भाव, देखने वाला जानो॥
भूत प्राणियों विषै, आत्मा को यों जानत।
बर्फ मध्य जल व्याप्त, इस तरह से वह मानत॥
जिमि स्वपने से जगा, हुआ नर अपने मांही।
वैसा ही संसार, दीखता उसके ताहीं॥

अथवा जागृत स्वप्न, सुषुप्ती में भी सुन्दर ।
लखै वही चैतन्य, सबहि के घटघट अन्दर ॥२६॥

हे पारथ सम्पूर्ण, भूत प्राणिन के मांहीं ।
उनमें व्यापक पूर्ण, समझ तू मेरे ताहीं ॥
उनमें मुझको लखो, और मेरे में उनको ।
ऐसा व्यापक व्याप्य, भाव बतलाया तुमको ॥
इसीलिये मैं कभी, अलग नहिं होता उनसे ।
अथवा वे भी कभी, पृथक नहिं होते मुझसे ॥
जान एक ही भाव, रूप में ठहर रहे हैं ।
हे अर्जुन सर्वत्र, मुझे ही देख रहे हैं ॥३०॥

इस प्रकार जो पुरुष, सबहि भूतों के अन्दर ।
राखै एकहि भाव, आत्मा में अति सुन्दर ॥
वही आत्मा परम, दिव्य मुझ विषै लगाता ।
सब प्रकार बरताव, साथ मेरे बरताता ॥
उसके अनुभव विषै, रूप मेरा ही भावे ।
मेरे रूप सिवाय, और कछु नहीं सुहावे ॥३१॥

जो योगी सम रूप, आत्मा देखै सब में ।
उसी तरह सुख दुःख, बराबर समझै उसमें ॥
रखता ऐसा भाव, वही योगी पहिचानों ।
परम श्रेष्ठ कल्याण, रूप उसको ही मानों ॥३२॥

इस प्रकार भगवान, कृष्ण के वाक्य श्रवणकर ।
अर्जुन कहने लगा, हृदय कुछ संशय रखकर ॥
हे भगवन ये ध्यान, योग मैंने सुन लीन्हा ।
समत्व भाव के साथ, आपने वर्णन कीन्हा ॥

पर इसमें मन कठिन, महा दुस्तर कहलावे।
बहुत काल तक ध्यान, ठहर थिर नहिं रह पावे ॥३३॥

ये मन प्रमथ स्वभाव, रूपवाला बतलाया।
अति चञ्चल दृढ़ कठिन, महा बलवान कहाया॥
यों बसमें नहिं होय, बड़ा अति दुस्तर जानूं।
पुनि वायू की भांति, विचरने वाला मानूं ॥३४॥

इस प्रकार का वचन, श्रवण कर तब अर्जुन को।
उसी समय श्रीकृष्ण, लगे समझाने जिसको॥
हे भारत मन अवशि, इसे ऐसा ही जानों।
चञ्चल चपल महान, बड़ा ही दुस्तर मानों॥
पर उपाय दो कहे, ध्यान देकर सुन लीजै।
अभ्यासहु वैराग्य, इसे ही निश्चय कीजै॥
तब ही मन बस होय, परम साधन बतलाया।
इसके पट तर और, यत्न दूजा नहिं पाया ॥३५॥

जिसका मन बस नहीं, उसे ये योग कठिन है।
यत्न शील स्वाधीन, उसे ये योग सुगम है॥
इस प्रकार का पुरुष, योग साधन में रत है।
उसका मन बस होय, खास मेरा यह मत है ॥३६॥

❀ अर्जुन बोला ❀

हे भगवन् जो पुरुष, योग साधन में रहकर।
मन विचलित हो गया, संग इंद्रिन का गहकर॥
शिथिल यत्न को प्राप्त, हुआ ऐसा वह ज्ञानी।
है श्रद्धा से युक्त, किंतु मन विचलित जानी॥
योग सिद्ध नहिं हुआ, इस तरह से पुनि जिसको।

ईश्वर भी साक्षात्, प्राप्त पुनि हुआ न उसको ॥
इस प्रकार से पुरुष, योग साधन को खोकर ।
कौन गती के लिये, प्राप्त होता है वो नर ॥३७॥

भगवत प्राप्ति सुमार्ग, विषै में मोहित होता ।
हे भगवन वह पुरुष, आश्रय को भी खोता ॥
छिन्न भिन्न हो गया, योग बादल की नाहीं ।
क्या नहिं उसको ठौर, लोक दोनों के मांही ॥
अथवा भगवत प्राप्ति, और जगके भोगन से ।
भ्रष्ट हुआ वह पुरुष, नष्ट तो नहिं है उनसे ॥३८॥

हे भगवन ये महा, प्रबल संशय छेदन को ।
तुम सिवाय नहिं और, दूसरा दीखै मुझको ॥
इसीलिये हे नाथ, विनय मेरी सुन लीजै ।
इस संशय को आप, अवशि ही छेदन कीजै ॥३९॥

❀ भगवान कृष्ण बोले ❀

हे अर्जुन वह पुरुष, लोक दोनों के अन्दर ।
नहिं होता है नाश, बात मेरी सुन सुन्दर ॥
कोई भी शुभ कर्म, अर्थ भगवत के करता ।
हे प्यारे वह पुरुष, नहीं दुर्गति में परता ॥४०॥

भ्रष्ट योग वह पुरुष, पुण्य लोकों में जावै ।
बहुत काल तक भोग, भोगकर पीछा आवै ॥
हे पारथ वह शुद्ध, आचरण करने वाला ।
श्री मानों के यहाँ, जन्म पुनि पाने वाला ॥४१॥

अथवा पुनि वैराग्य, रूप तो उन लोकन में ।
जाता नहिं है वहाँ, रहै वो इसी लोक में ॥

अति उत्तम पुनि ज्ञान, रूप योगिन के कुल में ।
लेता है यों जन्म, इस तरह से पुनि उनमें ॥
इस प्रकार का जन्म, जगत में दुर्लभ जानों ।
हे अर्जुन ये अटल, सत्य सिद्धान्त पिछानों ॥४२॥

ऐसा योगी पुरुष, जन्म उत्तम घर पावे ।
पूर्व देह का किया, कर्म साथहि में लावे ॥
समत्व बुद्धि पुनि योग, धारणा सुन्दर उसको ।
अनायास ही अवशि, प्राप्त होती है जिसको ॥
वही धारणा श्रेष्ठ, साथ लेकर जन्माता ।
भगवत प्राप्ति निमित्त, कर्म करने लग जाता ॥४३॥

श्रीमताम् वह पुरुष, हुआ विषयों के बसमें ।
पर पहला अभ्यास, किया रहता है उसमें ॥
वही परम अभ्यास, हटा देता विषियन से ।
पुनि आकर्षित हुआ, लगाता है मन मुझमें ॥
समत्व योग का आप, परम जिज्ञासू बनकर ।
करता है वह कर्म, वेद में ऐसा सुनकर ॥
इसी न्याय अनुसार, सकामी कर्म फलन को ।
रखता नहिं है ध्यान, उलंघन करता उनको ॥४४॥

इस प्रकार का मंद, यत्न करने वाला भी ।
परम गती को अवशि, प्राप्त होता है वह भी ॥
फिर उसको क्या कहैं, अनेकों जन्म पाय कर ।
निर्मल अन्तःकरण, लिया वैराग्य साधकर ॥
शुद्ध रूप प्रिय सिद्धि, प्राप्ति पुनि उसको होवे ।
कर अतिशय अभ्यास, सर्व पापों को धोवे ॥

ऐसा योगी शुद्ध, साधना करने वाला।
ईश्वर को साक्षात, प्राप्त कर लेने वाला ॥४५॥

तपस्वियों में श्रेष्ठ, परम योगी पहिचानों।
जो शास्त्रों को पढ़ैं, श्रेष्ठ उससे भी जानों ॥
तथा सकामी पुरुष, कर्म करता है नाना।
उससे भी ये परम, श्रेष्ठ योगी ही माना ॥
इसीलिये हे पार्थ, चित्त को थिरकर रख तू।
याही में कल्याण, समझकर योगी बन तू ॥४६॥

हे भारत सम्पूर्ण, योगियों के भी अन्दर।
जो है श्रद्धावान, वही योगी अति सुन्दर ॥
अन्तरात्मा विषै, निरंतर भजता मुझको।
वह योगी अति श्रेष्ठ, मान्यवर समझा उसको ॥४७॥

ॐ श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे आत्म संयम
योगोनाम षष्ठोऽध्याय सम्पूर्णम्

अथ सातवाँ अध्याय

प्रिय सप्तम् अध्याय में, योग ज्ञान विज्ञान।
कथन प्रेम संयुत किया, लछमण दास प्रमान ॥

❀ भगवान् कृष्ण बोले ❀

हे अर्जुन इसलिये, ध्यान दे मम चरणन में।
असक्तता को त्याग, प्रेम रख अनन्य मुझमें ॥
ऐसा भाव अनन्य, परायण होकर मुझको।
तब तो निश्चय योग, प्राप्त होवैगा तुझको ॥
बल विभूति ऐश्वर्य, गुणों से युक्त आत्मा।
ऐसा संशय रहित, परम प्रिय शुद्ध आत्मा ॥

वो ही आत्म स्वरूप, सब जगह निश्चय कीजै ।
जिसका दिव्य प्रभाव, और आगे सुन लीजै ॥ १ ॥

मैं अब तेरे लिये, रहस्य के सहित सुनाऊँ ।
ज्ञान तत्त्व का रूप, पूर्णता से बतलाऊँ ॥
जिसै जान कर और, जानना नहिं रह कोई ।
ऐसा उत्तम ज्ञान, सभी संशय को खोई ॥ २ ॥

हे पारथ जो पुरुष, हजारों में से कोई ।
मेरी प्राप्ति निमित्त, यत्न करता है बोई ॥
उनमें भी पुनि एक, परायण होवे मुझको ।
जानै भली प्रकार, ज्ञान से परम तत्त्व को ॥ ३ ॥

पृथ्वी जल आकाश, अग्नि वायू उपजावै ।
अहङ्कार मन बुद्धि, अष्ट विधि प्रकृति कहावै ॥ ४ ॥

अष्ट तरह की प्रकृति, महा जड़ रूप पिछानों ।
अपरा जिसका नाम, किन्तु चेतन मत मानों ॥
दूजी मेरी जीव, रूप प्रकृती बतलाई ।
परा नाम विख्यात, महा चेतन दर्शाई ॥
जिसने यह सम्पूर्ण, जगत को धारण कीन्हों ।
हे अर्जुन यह प्रकृति, रीति दो उनकी चीन्हों ॥ ५ ॥

इस प्रकार तू समझ, प्रकृति अपराके अंदर ।
दूजी चेतन परा, प्रकृति लखि जिसमेंसुन्दर ॥
दोनों प्रकृति महान्, जगत इनका ही जानों ।
उनका कारण मूल, किंतु मुझको पहिचानों ॥
इसीलिये सम्पूर्ण, जगत को मैं रचता हूँ ।
अथवा पालन और, प्रलय भी मैं करता हूँ ॥ ६ ॥

कोई भी नहिं वस्तु, मुझ बिना खाली जगमें।
अस्ति भाति प्रियरूप, आत्मा समझो सबमें॥
मणियों से जिस तरह, सूत्र पुनि गुथा हुआ है।
इसी भांति संसार, मुझ विषै पुरा हुआ है॥ ७॥

अथवा सूरज चन्द्र, उन्हों में प्रकाश मैं हूँ।
वेदों में उंकार, जल विषै रस भी मैं हूँ॥
तथा तत्व आकाश, उस विषै शब्द रूप हूँ।
पुरुषों में पुरुषत्व, रूप पुनि बल स्वरूप हूँ॥
पृथ्वी में प्रिय गंध, रूप मुझको पहिचानों।
तथा अग्नि के विषै, तेज मेरा ही जानों॥
जितने भी पुनि जीव, उन्हों का जीवन मैं हूँ।
तपस्वियों का और, परम प्रिय तप भी मैं हूँ॥ ६॥

हे पारथ सम्पूर्ण, भूत मुझ विषै जानिये।
अथवा कारण मूल, सनातन मुझे मानिये॥
विद्वानों की श्रेष्ठ, बुद्धि मुझको ही जानों।
तेजस्वियों का तेज, रूप मेरा ही मानों॥१०॥

आसक्ति के सहित, कामनायें नहिं रखता।
इस प्रकार का पुरुष, आप में बल रख सकता॥
उन बलवानों विषै, परम बल मुझको जानों।
हे अर्जुन वह पुरुष, महा सामर्थ्य पिछानों॥
किन्तु शास्त्र अनुकूल, काम मुझको ही लखतू।
अथवा शास्त्र विरुद्ध, काम मत मुझे समझतू॥११॥

तथा और भी भाव, सतोगुण से उपजाये।
यथा रजोगुण और, तमोगुण से प्रगटाये॥

उन सबको तुम प्रगट, हुए मेरे से जानो।
पर मैं उन्ह में नहीं, उन्हें मुझ में मत मानो ॥१२॥

किन्तु गुणों का कार्य, रूप सात्त्विक दर्शाया।
राजस अथवा और, तमोगुण भी बतलाया॥
तीनों गुणने जगत, महा चक्कर में डारा।
अथवा रागद् द्वेष, और विषयों के द्वारा॥
इनसे सब संसार, मोह में फंसा हुआ है।
छुटना कठिन महान, गुणों से सना हुआ है॥
किन्तु गुणों से परे, दिव्य अविनाशी मुझको।
जानत है इस तरह, तत्व से मुझ ईश्वर को ॥१३॥

मेरी अद्भुत प्रबल, योग माया दरशाई।
किन्तु त्रिगुण मयरूप, बड़ी दुस्तर बतलाई॥
परन्तु जो भी मुझे, निरन्तर भजता कोई।
हे भारत वह पुरुष, पार माया से होई ॥१४॥

ऐसा सुगम उपाय, हुए पर भी माया कर।
हरा हुआ है ज्ञान, आसुरी स्वभाव पाकर॥
इस स्वभाव के मनुज, नीच दूषित कर्मों से।
भजते नहिं हैं मुझे, इस तरह के भावों से ॥१५॥

चार तरह के भक्त, मुझे भजने वाले हैं।
अथवा उत्तम कर्म, सबहि करने वाले हैं॥
अर्था अर्थी प्रथम, दूसरा आरत जानों।
तृतिये पुनि जिज्ञासु, चतुर्था ज्ञानी मानों ॥१६॥

हे उनमें भी भक्त, मुझे ज्ञानी अति प्यारा।
मुझको अच्छी तरह, तत्व से जानन हारा॥

राखै एकहि भाव, नित्य मेरे में सुन्दर ॥
ठहरा हुआ अनन्य, प्रेम भक्ती के अन्दर ॥
ऐसा ज्ञानी पुरुष, मुझे अत्यन्त सुहावे ।
मुझ सिवाय पुनि जिसे, दृष्टि दूजा नहिं आवे ॥१७॥

यद्यपि सबहिं उदार, रूप माने जाते हैं ।
पुनि श्रद्धा से युक्त, भाव मुझ में लाते हैं ॥
मुझ ईश्वर की तरफ, भजन में समय बिताते ।
इसीलिये वे भक्त, बड़े उत्तम कहलाते ॥
ज्ञानी तो साक्षात, रूप मेरा ही जानो ।
ये मेरा मत अटल, इसे निश्चय कर मानों ॥
रखै एक थिर बुद्धि, ठहर कर मेरे अन्दर ।
अति उत्तम गति प्राप्त, वही विज्ञानी सुन्दर ॥१८॥

बहुत जन्म के बाद, जन्म अन्तिम का होई ।
तत्त्व ज्ञान को प्राप्त, अवशि होता है वोई ॥
उस ज्ञानी के लिये, सभी कुछ वासुदेव ही ।
अन्य वस्तु नहिं लखै, लखै सब वासुदेव ही ॥
ऐसा योगी पुरुष, समझकर भजता मुझको ।
इस प्रकार का योग, महा दुर्लभ है उसको ॥१९॥

विषयासक्त महान्, पुरुष निज स्वभाव बस में ।
भ्रष्ट होगया ज्ञान, कामना रख भोगन में ॥
ऐसा ज्ञानी भ्रष्ट, कामनाओं के कारण ।
जो जो नियम प्रसिद्ध, उन्हीं को करता धारण ॥
उन नियमों के साथ, देवताओं को भजता ।
हे अर्जुन वह पुरुष, सभी कुछ उन्हें समझता ॥२०॥

इस रहनी के पुरुष, काम्य कर्मों के वस में।
होते हैं तल्लीन, देवतों के पूजन में॥
उन देवों की ओर, भावना मैं उपजाऊँ।
श्रद्धा को भी हृदय, उन्हों के थिर रखताऊँ॥२१॥

ऐसी श्रद्धा युक्त, हुआ पूजा देवन की।
करता भली प्रकार, धारणा रखकर मन की॥
मेरे द्वारा किये, हुए इच्छित भोगन को।
दिलवाता हूँ अवशि, उन्हीं देवन से उनको॥२२॥

हे पारथ उन अल्प, बुद्धि वालों के फलको।
नाशवान क्षण भंगु, समझ निश्चय ही उसको॥
जो देवों को भजें, लोक उन्हीं के पाते।
अथवा मेरे भक्त, मुझ विषै आय समाते॥२३॥

ऐसा होते हुए, सभी मुझको नहिं भजते।
बुद्धि हीन वे पुरुष, तत्व को नहीं समझते॥
मो सम उत्तम और, दूसरा नहीं लखावे।
अविनाशी पर ब्रह्म, अजन्मा रूप सुहावे॥
ऐसा जाने हुए, आपनी माया करके।
होता हूँ मैं प्रगट, मनुष का शरीर धर के॥
उस प्रभाव के लिये, तत्वसे नहीं जानते।
मन इन्द्रिन से परै, अनुत्तम नहीं मानते॥
मुझे मनुष की भांति, जन्मने वाला जानें।
व्यक्ति भाव को प्राप्त, हुआ ऐसा वह मानें॥२४॥

मेरी उत्तम प्रबल, योग माया से मुझको।
छिपा हुआ पहिचान, प्रगट नहिं होता सब को॥

यों अज्ञानी पुरुष, तत्त्व से जानत नाहीं।
अविनाशी साक्षात्, अजन्मा मेरे ताहीं॥
ऐसा ईश्वर मुझे, तत्व द्वारा पहिचाने।
अथवा जीवन मरण, मुझ विषै वो नहिं माने॥२५॥

पूर्वकाल में लोग, प्रगट होकर खो गये सब।
वर्तमान् इस समय, और हों वे आगे अब॥
मैं तो अच्छी तरह, जानता हूँ उन सबको।
परन्तु श्रद्धा रहित, पुरुष नहिं जानत मुझको॥२६॥

हे अर्जुन संसार, मध्य इच्छा पुनि द्वेषम्।
जिससे सुख दुःखादि, देह में होंय प्रवेशम्॥
फिर होता है मोह, मोह से सब ही प्राणी।
रहते हैं लवलीन, महा मूरख अज्ञानी॥२७॥

हे भारत निष्काम, भाव से श्रेष्ठ कर्म कर।
होवेंगे सब नष्ट, पाप तेरे निश्चय कर॥
मोह राग द्वेषादि, द्वन्द जिनके खोते हैं।
ऐसे निश्चल पुरुष, प्राप्त मुझको होते हैं॥२८॥

हे अर्जुन जो पुरुष, शरण मेरी ही लेकर।
जरा मरण छुट जाय, यत्न ऐसा ही दृढ़कर॥
वो ही पुरुष महान, ब्रह्म को पाय सकै है।
कर्म और अध्यात्म, रूप को जान सकै है॥२९॥

अधिभूतम अधिदेव, और अधियज्ञ विचारो।
सबका आत्म स्वरूप, तत्त्व मुझ विषै निहारो॥
जैसे बादल भाफ, धूम पुनि बर्फ समझ तू।
जल स्वरूप पहिचान, भेद इस में मत लख तू॥

वैसे ही अधिभूत, और अधिदेव मानिये।
अथवा पुनि अधियज्ञ, आदि सब मुझे जानिये॥
इस प्रकार से पुरुष, ध्यान जो मेरा लाते।
युक्त चित्त पुनि हुए, अन्त में मुझको पाते॥३०॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे ज्ञान विज्ञान
योगो नाम सप्तमो अध्याय सम्पूर्णम्

आठवाँ अध्याय

प्रिय अष्टम अध्याय में, ब्रह्माक्षर संयोग।
लखन दास भव से तरें, पढ़ें सुनें जो लोग॥

अर्जुन कहने लगा, परम प्रिय वचन तुम्हारे।
हे भगवन् वे वचन, समझ नहिं परे हमारे॥
जिसक वर्णन किया, आपने बड़े प्रेम से।
उसको अच्छी तरह, सुनाओ मुझे नेम से॥
हे भगवन अब प्रथम, ब्रह्म का भेद बताओ।
कर्म और अध्यात्म, तत्व ये भी समझाओ॥
अथवा पुनि अधिभूत, नाम से क्या कहलाया।
और तथा अधिदेव, नाम भी मुझे सुनाया॥ १॥

हे मधुसूदन यहाँ, कौन अधियज्ञ कहावै।
इस शरीर में कहो, किस तरह वो दर्शावै॥
युक्त चित्त से पुरुष, आपको निश्चय जानें।
परन्तु अन्तिम समय, तुम्हें कैसे पहिचानें॥ २॥

इस प्रकार का प्रश्न, श्रवण कर तब अर्जुन को।
उसी समय श्रीकृष्ण, लगे समझाने जिसको॥
हे अर्जुन वह ब्रह्म, परम अक्षर पहिचानो।

नाश कभी नहिं होय, अचल अविनाशी जानों ॥
सच्चिद घन आनन्द, प्रकाशक ब्रह्म कहावें ।
असत दुःख जड़ रूप, दृश्य से परें लखावें ॥
हे भारत अध्यात्म, नाम से जीव अनूपम् ।
सो तेरा निज रूप, आत्मा शुद्धस्वरूपम् ॥
सब भूतों में भाव, प्रगट करता है सोई ।
शास्त्र विहित शुभ कर्म, कहैं इसको सब कोई ॥
यज्ञ होम दानादि, क्रिया में द्रव्य लगाना ।
संध्या तर्पण आदि, सभी को कर्म बखाना ॥ ३ ॥
अथवा सभी पदार्थ, देखने में जो आवें ।
सो उत्पत्ति विनाश, धर्म वाले कहलावें ॥
उनको ही अधिभूत, रूप से जान लीजिये ।
अब आगे अधिदेव, रूप पर ध्यान दीजिये ॥
जो हिरण्यमय गर्भ, पुरुष अधिदेव लखाया ।
सूत्र आत्मा नाम, इसी का और बताया ॥
हे अर्जुन इस देह, विषै अधियज्ञ नाम से ।
वासुदेव ही मुझे, समझिये परम ध्यान से ॥ ४ ॥

अन्त काल में मुझे, सुमरता हुआ देह को ।
कर जाता है त्याग, प्राप्त हो जाता मुझको ॥
मेरे प्रिय साक्षात्, रूप को निश्चय पावै ।
हे भारत इस विषै, तनिक संशय मत लावै ॥ ५ ॥

जिस जिसका जो भाव, अन्त में हृदय राख कर ।
उस उस को ही प्राप्त, होत है देह त्याग कर ॥
जिसका चिंतन करै, हमेशां वही याद हो ।
अन्त काल में उसी, रूप का सही ध्यान हो ॥ ६ ॥

हे पारथ सब समय, निरन्तर मुझको रट तू।
मन मेरे में राख, युद्ध भी निश्चय कर तू॥
परम बुद्धि से युक्त, हुआ संशय खोवैगा।
तब तू मेरे लिये, प्राप्त निश्चय होवैगा॥ ७॥

हे अर्जुन यह नियम, तुम्हें मैंने समझाया।
परमेश्वर का ध्यान, परम अभ्यास बताया॥
अन्य ओर नहिं जाय, चित्त मेरे से हट कर।
चिंतन करता रहे, निरन्तर ही निश्चय कर॥
तब वह परम प्रकाश, रूप निर्मल ईश्वर को।
निश्चय ही यह रूप, प्राप्त होवेगा तुमको॥ ८॥

ऐसा प्रिय सर्वज्ञ, नियंता अनादि रूपम्।
सूक्ष्म से भी बहुत, सूक्ष्म अति परम अनूपम्॥
सबको धारण करै, और पोषण भी करता।
अचिन्त्य जिसका रूप, चिंतवन में नहिं परता॥
अथवा सूर्य समान, मनोहर प्रकाश पाया।
चेतन नित्य स्वरूप, अविद्या परे बताया॥
शुद्ध सच्चिदानंद, ब्रह्म कहते हैं जिसको।
इस प्रकार से समझ, रटन करते हैं उसको॥ ९॥

भक्ति युक्त जो पुरुष, अन्त में योग क्रिया कर।
पुनि भ्रकुटी के मध्य, प्राण को ले ठहरा कर॥
फिर निश्चल मन हुआ, रटन करता है वाको।
परम पुरुष परमात्म, प्राप्त होता है ताको॥१०॥

वेदों का सिद्धान्त, जानने वाला ज्ञानी।
सच्चिद घन आनन्द, परम पद को पहचानी॥

उस पद को ॐकार, नाम से करैं बखानी ।
यत्न शीलता युक्त, महात्मा जन विज्ञानी ॥
अनासक्त पुनि हुए, महात्मा ज्ञानी जन तो ।
हो जाते हैं लीन, उसी पद को निश्चय तो ॥
तथा परम पद चहैं, साधना उनकी ये ही ।
ब्रह्मचर्य का शुद्ध, आचरण करते वे ही ॥
जिस साधन को पाय, प्राप्त होवे उस पद को ।
उसको अच्छी तरह, सुनाता हूँ मैं तुम को ॥११॥

सब इन्द्रिन के द्वार, रोक विषियों से हटकर ।
मन को हृदय बिठाय, प्राण मस्तक में रखकर ॥
इस प्रकार का योग, धारणा से थिर होकर ।
मन इन्द्रिन के विषय, वासनाओं को खोकर ॥१२॥

तब एकाक्षर ओम्, ब्रह्म का कर उच्चारण ।
जिसका अर्थ स्वरूप, हृदय में करता धारण ॥
ऐसा करता हुआ, देह को त्याग गया है ।
हे पारथ वह पुरुष, परम गति पाय गया है ॥१३॥

मुझमें परम अनन्य, चित्त को ठहरा दीन्हा ।
और सदा मम नाम, निरन्तर सुमरण कीन्हा ॥
इस प्रकार से चित्त, ध्यान से युक्त मानिये ।
वो ही योगी मुझे, सहज में प्राप्त जानिये ॥१४॥
हे अर्जुन वो परम, सिद्धि को प्राप्त हुआ है ।
दुःखालय के पुनर, जन्म से मुक्त हुआ है ॥१५॥

ब्रह्म लोक पर्यन्त, लोक सब पुनरावर्ती ।
है ये निश्चय बात, टारने से नहिं टर्ती ॥

उन लोकों के गये, लौट कर आजाते हैं।
मुझ को होकर प्राप्त, जन्म पुनि नहिं पाते हैं॥
मैं हूँ कालातीत, अवधि वाला मत जानों।
ब्रह्मादिक के लोक, अवधि वाले पहिचानों ॥१६॥

ब्रह्मा का दिन एक, सहस्त्र युग का बतलाया।
इतना ही विस्तार, रात का भी पुनि पाया॥
सहस्त्र चौकड़ी रात, सहस्त्र ही दिन की जानों।
दोनों ही दिन रात, बीस सैंका की मानों॥
चार युगन की एक, चौकड़ी जान लीजिये।
दो हजार यों भईं, गणित पर ध्यान दीजिये॥
हे भारत जो पुरुष, काल की गती लखाते।
उन्हें ब्रह्म लोकादि, अन्त वाले दिखलाते ॥१७॥

दृष्य मात्र ये जगत, सबहि ब्रह्मा के दिन में।
होता है उत्पन्न, देह सूक्षम से छिन में॥
ब्रह्मा का अव्यक्त, देह सूक्षम पहिचानों।
उसी देह में जगत, रात में लय हो जानों ॥१८॥

जीवों का समुदाय, उस विषे प्रगट मानिये।
किन्तु प्रकृति बस हुए, रात में लीन जानिये॥
ब्रह्मा की सौ वर्ष, पूर्ण आयू पहिचानों।
पुनि इसके उपरान्त, मृत्यु निश्चय ही जानों॥
जब ब्रह्मा का समय, पूर्ण पुनि हो जाता है।
लोक सहित पुनि शान्त, आप भी हो जाता है ॥१९॥

परन्तु उस अव्यक्त, परे अति रूप विलक्षण।
जिसका भली प्रकार, कहूँ अब आगे लक्षण॥

अज अद्वैत अखंड, सनातन रूप सुहाया।
सच्चिद घन आनन्द, ब्रह्म परिपूर्ण लखाया॥
ऐसा वह अव्यक्त, कभी नहिं जगता सोता।
सब भूतों के नष्ट, हुए पर नष्ट न होता॥२०॥

हे अर्जुन अव्यक्त, भाव अक्षर ही मानों।
वही परम गति रूप, वही अक्षर कर जानों॥
जिस अव्यक्त स्वरूप, सनातन को पाकर के।
पीछा लौटे नहीं, वहाँ योगी जाकर के॥
वह मेरा प्रिय धाम, परम अक्षर कहलाया।
सब धामों से धाम, परे ये ही बतलाया॥२१॥

जिस ईश्वर के सबहि, भूत अन्तर्गत जानों।
उसी रूप में सकल, जगत परिपूर्ण पिछानों॥
वही सनातन पूर्व, परम अव्यक्त मानिये।
पुनि अनन्य प्रियभक्ति, किये से प्राप्त जानिये॥२२॥

जो योगी जिस काल, देह का त्यागन करकें।
जाता है उस मार्ग, नहीं आता है फिरकें॥
एक मार्ग का गया, हुआ पीछा आजाता।
उन दोनों का मार्ग, तुम्हें विधि से समझाता॥२३॥

उत्तम दोनों मार्ग, एक अति उत्तम मानों।
जिसमें अग्निर्ज्योति, देव अभिमानी जानों॥
दिन अभिमानी देव, और पुनि शुक्ल पक्ष का।
उत्रायण का देव, वही है छः महिनों का॥
जाते हैं इस मार्ग, ब्रह्म वेत्ता विज्ञानी।
परोक्ष भाव 'विचार, उपासक बनके प्राणी॥

कहे हुए उपरोक्त, देवताओं के द्वारा ।
क्रम क्रम से वे पहुँच, ब्रह्म का लेत सहारा ॥२४॥

अब आगे पुनि मार्ग, दूसरा भी समझाते ।
जिसमें देव प्रधान, चन्द्रमा को बतलाते ॥
धूम रात्रि पुनि कृष्ण, पक्ष का है अभिमानी ।
दक्षिणायन का षष्ठ, मास का भी वह जानी ॥
हे भारत इस मार्ग, विषै जो मरने वाला ।
है वो पुरुष सकाम, कर्म का करने वाला ॥
पूर्व न्याय अनुसार, देवताओं के बल से ।
पहुँचे हैं उस जगह, पुरुष ये भी क्रम क्रम से ॥
चन्द्र ज्योति को प्राप्त, हुआ नाना सुख पाता ।
कुछ दिन उनको भोग, लौटकर पीछा आता ॥२५॥

दो प्रकार के मार्ग, बताये मैंने तुमको ।
देवयान पुनि पित्रि, मार्ग कहते हैं जिसको ॥
शुक्ल पक्ष पुनि कृष्ण, पक्ष को भी बतलाया ।
हे अर्जुन यह मार्ग, सनातन का कहलाया ॥
एक मार्ग से गया, लौट पीछा नहिं आता ।
दूजे से पुनि आय, जन्म अरु मृत्यु भुगाता ॥२६॥

उन दोनों का तत्व, जानने वाला कोई ।
हे पारथ वह पुरुष, कभी मोहित नहिं होई ॥
वह तो पुनि निष्काम, भाव से साधन करता ।
किसी तरह की नहीं, कामनाओं में परता ॥
इसीलिये हे पार्थ, सब समय श्रेष्ठ बुद्धि हो ।
मेरी प्राप्ति निमित्त, योग में चित्त युक्त हो ॥२७॥

जिसने इसका रहस्य, तत्व से जान लिया है।
वेद पाठ पुनि यज्ञ, दान तप सभी किया है॥
उनका जो फल पुण्य, लांघकर जिसको जाता।
अवशि सनातन ब्रह्म, परम पद को वह पाता ॥२८॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्रीकृष्णाजुर्न सम्वादे अक्षर ब्रह्म योगो नाम
अष्टमो अध्याय सम्पूर्णम्

* नवम अध्याय *

धन्य नवम अध्याय में, गुह्य योग का सार।
प्रेमी लक्ष्मण दास को, कृष्ण नाम आधार॥

पुनि इसके उपरान्त, कृष्ण बोले प्रिय वाणी।
हे अर्जुन निज तत्व, और भी करूं बखानी॥
दोष दृष्टि से रहित, तुम्हें प्रिय भक्त समझकर।
परम गोप्य जो ज्ञान, सुनाता हूँ निश्चय कर॥
जिसे जानकर मोह, जनित अज्ञान खोयगा।
दुःख रूप संसार, चक्र से मुक्त होयगा॥ १॥
जितनी विद्या कहीं, ज्ञान है सब का राजा।
तथा और पुनि गोप्य, वस्तुओं का भी राजा॥
पुनि प्रत्यक्ष फल रूप, बड़ा उत्तम दरशाया।
जिसका साधन सुगम, धर्म से युक्त बताया॥ २॥
तत्व ज्ञान से रहित, धर्म में श्रद्धा नाहीं।
होता नहिं है प्राप्त, पुरुष वह मेरे ताहीं॥
मेरी ओर निहार, तनिक नहिं ध्यान धरै है।
दुःख रूप संसार, चक्र में भ्रमण करै है॥ ३॥
मुझ में बर्फ समान, जगत परिपूर्ण मानिये।
सबका प्रिय आधार, मुझे ही सत्य जानिये॥

मेरे अन्तर्गतहिं, सर्व भूतों को मानों।
पर मैं उनमें नहीं, बात यह निश्चय जानों ॥ ४ ॥

मेरी परम अनूप, योग माया का तुमको।
लख प्रभाव विस्तार, मनोहर निश्चय उसको ॥
भूतों को उत्पन्न, और धारण करता हूँ।
पोषण भी मैं करूँ, पृथक भी मैं रहता हूँ ॥ ५ ॥

जैसे वायु महान, प्रगट होता नभ मांही।
नभ ही में पुनि रहै, विचरता हुआ सदाँ ही ॥
वैसे ही सम्पूर्ण, भूत मुझ विषै मानिये।
मेरे ही संकल्प, पाय उत्पन्न जानिये ॥ ६ ॥

हे भारत पुनि अंत, कल्प का होता जब ही।
मेरी प्रकृति मँझार, जीव लय होते सबही ॥
फिर मैं उनके लिए, रचू हूँ कल्प आदि में।
मुझ सिवाय ये काम, किसी के नहीं हाथ में ॥ ७ ॥
अपनी माया त्रिगुण, रूप को धारण करके।
सकल जीव परतन्त्र, आपने स्वभाव करके ॥
उन का बारम्बार, रचंता कारण मैं हूँ।
कर्मों के अनुसार, उन्हें फल दाता मैं हूँ ॥ ८ ॥

उन कर्मों में मुझे, तनिक आसक्ति नहीं है।
इसीलिये वह कर्म, बाँधता मुझे नहीं है ॥ ९ ॥
उदासीन की भांति, आप में थिर रहता हूँ।
हे अर्जुन ये परम, भाव तुमसे कहता हूँ ॥
मम सकास को पाय, चराचर सकल जगत को।
रचती मेरी प्रकृति, इस तरह से पुनि सबको ॥

जो ऊपर के किये, हुए हेतू के द्वारा।
यों जग आवागमन, चक्र में घूमे सारा ॥१०॥

ऐसा होते हुए, भाव को नहिं पहिचाने।
सब भूतों का मुझे, परम ईश्वर नहिं जाने ॥
ऐसे मूढ़ महान, मनुज का शरीर धरकर।
मुझ ईश्वर के लिये, समझते नहिं परस्पर ॥
अपनी सुन्दर शुद्ध, योग माया से मुझको।
निश्चय आना पड़े, जगत उद्धार करन को ॥
ऐसे मेरे दिव्य, जन्म को नहीं मानते।
पुनि साधारण मनुष, विचरता हुआ जानते ॥११॥

वृथा आस पुनि वृथा, कर्म पुनि वृथा ज्ञान हीं।
इस प्रकार के पुरुष, मुझे वे नहीं मान हीं ॥
जिनने असुर स्वभाव, तामसी धार लिये हैं।
हे भारत वे मूढ़, मोह ने भ्रमित किये हैं ॥१२॥

देव प्रकृति आधार, हुए पुनि ज्ञानी जनतो।
सब भूतों का मुझे, सनातन मानें वेतो ॥
अक्षर परम स्वरूप, जानकर अनन्य मन में।
रटें निरन्तर युक्त, चित्त से होकर मुझ में ॥१३॥

वे दृढ़ निश्चल भक्त, निरन्तर नाम गुणों का।
कीर्त्तन करते हुए, सफल हो यत्न उन्हों का ॥
बारम्बार प्रणाम, सदा हीं करते रहते।
रहे ध्यान में युक्त, चित्त जिनके नहिं बहते ॥
अनन्य भक्ति महान, परम प्रिय पाजाते हैं।
ऐसे साधन युक्त, शरण मम आजाते हैं ॥१४॥

उनमें मेरे लिये, अनेकों भावों करि के ।
पूजैं भली प्रकार, प्रेम से दृढ़ चित धरिके ॥
कोई तो पुनि ज्ञान, यज्ञ से पूजे जिसको ।
रख कर एकहि भाव, सब जगह देखे उसको ॥
कोई स्वामी दास, भाव न्यारा रखते हैं ।
बहुत तरह के भाव, सबहि मुझको भजते हैं ॥१५॥

श्रोत कर्म क्रतु हवन, सुधा भी जानो मुझको ।
पञ्च यज्ञ घृत अग्नि, अन्न औषधि मन्त्रण को ॥
जितने भी सतकर्म, सबहि में मुझको जानों ।
जो मेरे से रहित, कर्म उसको मत मानों ॥१६॥

धारण पोषण करूं, कर्म फल दाता मैं हूं ।
तथा पितामह पिता, और माता भी मैं हूँ ॥
और जानने योग्य, परम ॐकार मुझहि को ।
यजुर्वेद ऋग्वेद, साम भी समझ मुझहि को ॥१७॥

ऐसा उत्तम पुरुष, भरण पुनि पोषण वाला ।
सबका स्वामी सुहृद, शुभाशुभ लखने वाला ॥
सबका वह स्थान, शरण के योग्य कहावे ।
करता प्रति उपकार, बड़ा हित रूप सुहावे ॥
और प्रलय उत्पत्ति, सभी का कारण मैं हूं ।
पुनि आधार निधान, और अविनाशी मैं हूं ॥१८॥

सूर्य रूप पुनि हुआ, जगत हित मैं तपता हूँ ।
कर आकर्षण जलहि, सब जगह वर्षाता हूँ ॥
मैं हीं अमृत रूप, मृत्यु भी मुझे मानिये ।
अथवा सत्य असत्य, सबहि कुछ मुझे जानिये ॥१९॥

कर्म सकाम विचार, वेद ने विधान कीन्हा।
कर यज्ञादिक कर्म, सोम रस को पी लीन्हा॥
होकर पाप पवित्र, पुण्य प्रिय हृदय समाता।
हे अर्जुन वह पुरुष, स्वर्ग को निश्चय पाता॥
पुण्यों का फल रूप, लोक सुरपति के जाकर।
अति प्रसन्न तहँ होय, दिव्य भोगों को पाकर॥२०॥

ऐसे परम विशाल, स्वर्ग के भोग भोगकर।
पुण्य क्षीण पुनि हुए, यहीं आ जाते फिर कर॥
तीनों वेदों माँहि, स्वर्ग के साधन पाये।
किन्तु सकामी पुरुष, शरण भोगों की आये॥
यों वे बारम्बार, यहाँ पर आते जाते।
हृदय कामना राख, कर्म से नहिं छुट पाते॥
पुण्यों का बल पाय, स्वर्ग को चले जात हैं।
पुण्य क्षीण पुनि हुए, यहीं पर जन्म पात हैं॥२१॥

जो अनन्य प्रिय भाव, पाय मुझमें ठहरत हैं।
चिंतन करते हुए, निरन्तर मुझमें रत हैं॥
प्रिय उत्तम निष्काम, भाव से भजने वाले।
नित्य एक ही भाव, मुझ विषै रखने वाले॥
उन पुरुषों का योग, क्षेम मैं ही रखता हूँ।
ऐसों से मैं कभी, अलग नहिं रह सकता हूँ॥२२॥

यदपि सकामी पुरुष, भक्ति करते देवन की।
हो श्रद्धा से युक्त, और पूजा भी उनकी॥
तो भी ऐसा समझ, पूजते हैं वह मुझको।
किंतु पूजना अविधि, पूर्वक समझो उनको॥२३॥

सब यज्ञों को परम, भोगता मुझको जानो।
सुहृद रूप प्रभू परे, मुझे ही स्वामी मानो॥
परन्तु मुझे अधियज्ञ, रूप को तत्व न लखते।
इसीलिये वे जठर, अग्नि में पड़कर तपते॥२४॥

हे पारथ ये नियम, तुम्हें फिर भी समझाते।
देवन के जो पूज्य, उन्हीं देवों को पाते॥
पितरों के पुनि पूज्य, पितर लोकों को जाते।
भूतों के जो पूज्य, भूत योनी को पाते॥
अथवा मेरे भक्त, प्राप्त मुझको होते हैं।
निश्चय उनके जन्म, मरण जड़ से खोते हैं॥२५॥

मेरे पूजन विषै, सुगमता जान लीजिये।
जिस पर अच्छी तरह, समझकर ध्यान दीजिये॥
जो मेरे प्रिय भक्त, प्रेम से करते अर्पण।
पत्र पुष्प फल नीर, करें वे मुझे समर्पण॥
शुद्ध बुद्धि निष्काम, भक्त प्रिय प्रेमी जन ने।
जो कुछ अर्पण किया, पत्र पुष्पादिक उनने॥
उसको अच्छी तरह, प्रेम से ग्रहण करूं हूँ।
यों भक्तों के लिये, सगुण का रूप धरूं हूँ॥२६॥

जो कुछ खावें पियें, सबहि कुछ कर्म करैं हैं।
और हवन पुनि दान, नाम जप ध्यान धरैं हैं॥
परम स्वधर्मा चरण, रूप तप को भी अर्पण।
जो भी करने योग्य, सबहि मम करो समर्पण॥२७॥

कर्मों को तरह, करैगा अर्पण जब तू।
होवेगा सन्यास, योग से युक्त तभी तू॥

और शुभाशुभ कर्म, फलों से इच्छा हटकर ।
बन्धन से छुटि जात, मुक्त होवे निश्चय कर ॥
उनसे होकर मुक्त, प्राप्त मुझ को होवेगा ।
हे अर्जुन तू तबहि, नींद सुख की सोवेगा ।
यद्यपि मैं सम भाव, रूप से व्यापक सब में ।
द्वेषी अरु पुनि मित्र, नहीं है मेरा जग में ।
परन्तु जो प्रिय भक्त, भजे है मेरे ताहीं ।
वे मेरे में समझ, और मैं उन के माहीं ॥२९॥

मेरी भक्ति प्रभाव, पाय कैसा भी कोई ।
अति दुष्कर्मी जीव, भक्त वह भी पुनि होई ॥
होकर भाव अनन्य, निरन्तर भजता मुझको ।
हे भारत वह साधु, रूप ही समझो उसको ॥
मुझको समझ यथार्थ, तत्व को निश्चय करता ।
मेरे भजन समान, अन्य कुछ लख नहिं परता ॥३०॥

ऐसा जन धर्मात्म, शीघ्र ही बन जाता है ।
और सदां के लिये, शान्ति पद को पाता है ॥
हे अर्जुन यह सत्य, बात निश्चय तुम सुनहूँ ।
ऐसे मेरे भक्त, नष्ट नहिं होते कबहूँ ॥३१॥

स्त्री वैश्य पुनि शुद्र, पाप योनि बतलाते ।
वे भी मेरी कहीं, शरण में जो आजाते ॥
फिर मैं अच्छी तरह, शरण में लेकर जिनको ।
अति उत्तम निज रूप, परम मति देता उनको ॥३२॥

फिर उनकी क्या कहैं, पुण्य उत्तम ब्राह्मण जन ।
होते मुझ को प्राप्त, राज ऋषि परम भक्त जन ॥

इसी लिये सुख रहित, हुआ मेरे में चित धर ।
क्षण भंगुर यह देह, भरोसा इसका मतकर ॥
मनुष देह को पाय, निरन्तर मुझको भज तू ॥
है ये दुर्लभ देह, इसे पुनि सत्य समझ तू ॥
परन्तु है ये नाश, घड़ी छिन में मिट जावै ।
नहीं काल का पता, किस समय पर आजावै ॥
विषयों का सुख भोग, समझ कर अनित्य जिसको ।
उसमें फँस मत कभी, निरन्तर भज तू मुझको ॥३३॥

मुझ से प्रेम अनन्य, नित्य मन अचल करो तुम ।
पुनि श्रद्धा से युक्त, नाम गुणगान करो तुम ॥
श्रवण कीर्तन मनन, पठन पाठन के द्वारा ।
करो निरन्तर भजन, यही है परम सहारा ॥
शङ्ख चक्र पुनि गदा, पद्म कुण्डल कीटन से ।
पीताम्बर वनमाल, युक्त सुन्दर भूषण से ॥
अथवा कौस्तुभमणी, बड़ी ही सुन्दर मानों ।
जिसका परम प्रकाश, महा विद्युति सम जानों ॥
यही विष्णु को रूप, भूषणों सहित निहारों ।
उसी रूप में रूप, परम अधियज्ञ विचारों ॥
सर्व शक्ति यों युक्त, रूप जाको तुम मानो ॥
बल विभूति ऐश्वर्य, और माधुर्य पिछानो ॥
वात्सल्य गम्भीर, तथा पुनि उदारता है ।
सुहृद आदि सम्पन्न, गुणों से प्रकाशता है ।
सब का आश्रय रूप, विष्णु को विनय भाव से ।
कर साष्टांग प्रणाम, दण्डवत बड़े चाव से ॥

इसी न्याय अनुसार, शरण आवेगा जब तू ।
राख एक ही भाव, मुक्ति पावेगा तब तू ॥३४॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्रीकृष्णार्जुन संवादे

* राज विद्या राज गुह्य योगोनाम नवमो अध्याय समाप्तम् *

दशवाँ अध्याय

योग शक्ति वेद स्तुती, षोड शांश अवतार ।
योग विभूति बनाइके, लखनदास निर्धार ॥

श्री भगवान बोले

हे अर्जुन फिर तुम्हें, परम प्रिय रहस्य सहित मैं ।
पुनि प्रभाव से युक्त, वचन समझाता अब मैं ॥
तेरा अतिशय प्रेम, लगा है मुझमें दृढ़कर ।
इसीलिये हित सहित, सुनाता हूँ निश्चय कर ॥ १ ॥

जो उत्पत्ति विभूति, सहित मेरी लीला को ।
महर्षि अथवा देव, जानते हैं नहिं ताको ॥
परन्तु मैं सब तरह, देव पुनि महर्षियों का ।
कारण आदि स्वरूप, समझ तू मुझे उन्हों का ॥ २ ॥

मुझे जन्म से रहित, अजन्मा अनादि मानत ।
सब लोकों का मुझे, तत्व से ईश्वर जानत ॥
वह मनुष्य में शुद्ध, ज्ञान मय पुरुष कहावे ।
पापों से हो मुक्त, परम जीवन फल पावे ॥ ३ ॥

तत्व ज्ञान पुनि बुद्धि, क्षमा प्रिय अमूढ़ता भी ।
अथवा सत्य महान, और मन बस करता भी ॥
पुनि इन्द्रिन का दमन, तथा सुख और दुःख को ।
जो उत्पत्ति महान, प्रलय भय और अभय को ॥ ४ ॥

तप समता सन्तोष, अहिंसा दान विचारो ।
कीर्ति और अपकीर्ति, इन्हें मुझ माहिं निहारो ॥
ऐसे नाना भाव, सकल भूतों में पाये ।
हे भारत ये भाव, सबहिं मुझसे उपजाये ॥ ५ ॥

जानों महर्षि सात, चार सनकादिक मानों ।
स्वायुंभुव मनु आदि, इन्हें चौदह मनु जानों ॥
ये सब मम संकल्प, पाय उत्पन्न मानिये ।
जिनकी इस संसार, विषै सब प्रजा जानिये ॥ ६ ॥

मेरी परमेश्वर्य, विभूति पुनि योग शक्ति को ।
समझैं भली प्रकार, तत्व से इन दोउन को ॥
ऐसा निश्चय ध्यान, योग द्वारा पाकर के ।
राखै एकहि भाव, मुझ विषै ठहरा करके ॥
इस प्रकार के पुरुष, बसैं हैं मेरे मांही ।
निश्चय कर इस विषै, तनिक भी संशय नांहीं ॥ ७ ॥

हे अर्जुन सम्पूर्ण, जगत को मैं उपजाता ।
मेरे ही से जगत, चेष्टाओं को पाता ॥
ऐसा मेरे लिये, तत्व से जान लेत हैं ।
करिके निश्चय सही, उसी में ध्यान देत हैं ॥
पुनि श्रद्धा से युक्त, भक्त पथ को नहिं तजता ।
वो ही है बुध पुरुष, निरन्तर मुझको रटता ॥ ८ ॥

मन को भी मुझ विषै, निरन्तर लगा दिया है ।
पुनि प्राणों के लिये, समर्पण मुझे किया है ॥
अथवा मेरी भक्ति, भाव की चर्चा सुन्दर ।
करते बारम्बार, सबहि आपस के अन्दर ॥

मम प्रभाव गुण कथन, भक्त जन सुनें कहें हैं।
ऐसे उत्तम पुरुष, सदा सन्तुष्ट रहें हैं॥ ९ ॥
ऐसा निर्मल ध्यान, निरन्तर रखने वाले।
प्रेम पूर्वक नित्य, मुझे ही भजने वाले॥
तब वह उत्तम ज्ञान, योग उनको मैं देता।
जिसे पाय कर भक्त, प्राप्त मुझको कर लेता॥१०॥
उन भक्तों पर परम, अनुग्रह मेरी मानों।
उन्हीं के प्रिय हृदय, कमल में मुझको जानों॥
हे पारथ अज्ञान, जनित पुनि प्राप्त हुआ है।
अन्धकार अति घोर, प्रबल उत्पन्न हुआ है॥
उसको परम प्रकाश, ज्ञान का दीपक लेकर।
कर देता हूँ नष्ट, जान ऐसा निश्चय कर॥११॥

❀ अर्जुन बोला ❀

हे भगवन तुम परम, ब्रह्म पुनि परम धाम हो।
अथवा परम पवित्र, मोक्ष के परम ठाम हो॥
ऋषि मुनियों ने दिव्य, सनातन तुमको माना।
देवों का भी आदि, देव कर तुमको जाना॥१२॥
और अजन्मा नित्य, सर्व व्यापी माने हो।
भक्तों ने तो अधिक, रूप करिके जाने हो॥
देवल असित महान, व्यास नारद ने गाये।
उसी तत्व को स्वयं, आपने मुझे सुनाये॥१३॥
हे केशव मैं तुम्हें, परम हित रूप जानता।
जो भी मुझसे कहा, उसे प्रिय सत्य मानता॥
वेद तुम्हें पुनि नेति, नेति कहकर सब गावें।
दानव अरु पुनि देव, कहो कैसे लख पावें॥१४॥

हे भूतों के ईश, भूत उपजाते तुम हो ।
हे देवों के देव, जगत के स्वामी तुम हो ॥
हे पुरुषोत्तम आप, स्वयं अपने आपहि को ।
जानों भली प्रकार, और को जाने तुम को ॥१५॥

हे भगवन उन दिव्य, आपनी विभूतियों का ।
हो कहने के योग्य, भली विधि तत्व उन्हों का ॥
जिन विभूतियों साथ, सकल लोकों के मांही ।
ठहर रहे हैं आप, सभी के हित के तांही ॥१६॥

किस प्रकार मैं करूँ, निरन्तर चिन्तन भगवन ।
जिसके द्वारा रूप, आपको जानूं भगवन ॥
हे योगेश्वर आप, भाव किन किन में पाओ ।
चिंतन करने योग्य, रूप वह मुझे बताओ ॥१७॥

अपनी परमेश्वर्य, दिव्य प्रिय विभूति को तुम ।
अथवा योग महान, शक्ति को भी निश्चय तुम ॥
ये दोनों विस्तार, पूर्वक फिर से कहिये ।
हे गोविन्द कृपाल, आपकी शरणे लहिये ॥
जो अमृत से भरे, आपके प्रिय वचनन को ।
सुन करके नहिं होय, तृप्ति पुनि मेरे मन को ॥१८॥

❀ श्री भगवान बोले ❀

हे अर्जुन अब दिव्य, रूप निज विभूतियों को ।
प्रधानता के साथ, सुनाता तुम्हें उन्हों को ॥
परन्तु मेरा अन्त, किसी ने भी नहिं पाया ।
नेति नेति कह वेद, पुरानों ने भी गाया ॥१९॥

सब भूतों के हृदय, देश में बैठा मैं हूँ ।
आदि अन्त पुनि मध्य, सबहि कुछ उनका मैं हूँ ॥२०॥

हे भारत मैं अदिति, जनित बारह पुत्रों में ।
अथवा वामन देव, समझ तू मुझे उन्हों में ॥
और जोतियों मध्य, प्रकासक सूरज मैं हूँ ।
तथा मरुत उञ्चास, उन्हों में मरीच मैं हूँ ॥
सत्ताइस नक्षत्र, जिन्हों में अधिपति मानों ।
जो है परम प्रकाश, चंद्रमा मुझको जानों ॥२१॥

वेदों में पुनि साम, वेद मुझको बतलाया ।
इन्द्रिन में मन समझ, इन्द्र देवन में गाया ॥
भूत प्राणियों विषै, परम चेतनता पाई ।
अथवा उनमें ज्ञान, शक्ति मेरी बतलाई ॥२२॥

एकादश पुनि रुद्र, उन्हों में शङ्कर मैं हूँ ।
यक्ष राक्षसों विषै, धनिक पति कुवेर मैं हूँ ॥
आठों वसुओं मांहि, अग्नि पुनि मुझको जानों ।
ऊँची शिखरों मध्य, मेरु पर्वत पहिचानों ॥२३॥

देवन के जो पूज्य, पुरोहित मुख्य मानिये ।
जिन्हें बृहस्पति कहें, उन्हें तू मुझे जानिये ॥
सेनापतियों मांहि, स्वामि कार्तिक पहिचानों ।
जलाशयों में परम, सिंधु मुझको ही मानों ॥२४॥

हे अर्जुन मैं भृगुर, महर्षियों मांहि कहाऊँ ।
वचनों में एकाक्षर, परम उँकार सुहाऊँ ॥
सब यज्ञों के विषै, नाम जप यज्ञ बताया ।
अचल वस्तुओं मांहि, हिमालय गिरि कहलाया ॥२५॥

सब वृक्षों में वृक्ष, मुझे पीपल का मानों ।
देव ऋषिन में परम, देव ऋषि नारद जानों ॥

गन्धर्वों के मांहि, चित्र रथ मान लीजिये ।
सिद्धों में प्रिय सिद्ध, कपिल मुनि जान लीजिये ॥२६॥

अथवा उच्चैःश्रवा, नाम घोड़ा कहलाया ।
अमृत से उत्पन्न, हुआ जिसको बतलाया ॥
और हाथियों मध्य, बड़ा ऐरावत जानों ।
पुनि मनुषों के बीच, मुझे राजा पहिचानों ॥२७॥

सब शस्त्रों में वज्र, गऊन में कामधेनु हूँ ।
सब सर्पों में सर्प, वासुकी सर्पराज हूँ ॥
शास्त्र रीति अनुसार, प्रगट सन्तान करन को ।
ऐसा उत्तम काम, देव तुम समझो मुझको ॥२८॥

जलचर अधिपति वरुण, देव मुझको जानों तुम ।
नागों में श्री नाग, शेष मुझको मानों तुम ॥
पितरों में पुनि पितृ, अर्यमा नामक जानों ।
शासन कर्त्ता मुझे, महा यमराज पिछानों ॥२९॥

पुनि दैत्यों में परम, श्रेष्ठ प्रहलाद मानिये ।
गिनती करने योग्य, उस विषै समय जानिये ॥
पशुओं में मृगराज, सिंह को जान लीजिये ।
पुनि पच्छिन में मुझे, गरुड़ को मान लीजिये ॥३०॥

पवित्र वाला वायु, देव अति ही पुनि पावन ।
शस्त्र धारियों बीच, राम भी परम सुहावन ॥
और मछलियों विषै, मगर पुनि मच्छ पिछानों ।
सब नदियों में मुझे, श्रेष्ठ गंगाजी जानों ॥३१॥
सृष्टि चक्र का आदि, अन्त पुनि मध्य समझ तू ।
विद्याओं में आत्म, रूप पुनि विद्या लख तू ॥

होता वाद विवाद, ब्रह्म विद्या के मांही।
उसमें निर्णय रूप, समझ तू मेरे तांही ॥३२॥
सबहि अक्षरों माँहि, परम प्रिय अकार मैं हूँ।
और समासों मध्य, द्वन्द पुनि समास मैं हूँ ॥
अक्षय काल महान, काल का काल कहाऊँ।
पोषण भी पुनि करूं, विराट भी धार रहाऊँ ॥३३॥
अथवा सबका नाश, करन को मृत्यु रूप हूँ।
आगे पुनि उत्पत्ति, रूप का भी कारण हूँ ॥
तथा स्त्रियों मांहि, कीर्ति श्री वाक् मानिये।
धृति मेधा अरु स्मृति, तथा पुनि क्षमा जानिये ॥३४॥

गायन करने योग्य, श्रुतियों में पुनि उसको।
बृहत् साम प्रिय नाम, समझ लेना तू मुझको ॥
छन्दों में प्रिय छन्द, गायत्री छन्द पिछानों।
महिनों में अगहेन, ऋतुन में बसन्त जानों ॥३५॥

छल वालों में जुआ, खेलने वाला मैं हूँ।
लड़ने वालों माँहि, जीतने वाला मैं हूँ ॥
प्रभाव शाली पुरुष, उन्हों में प्रभाव मानो।
अथवा निश्चय रूप, सात्वकी स्वभाव जानों ॥३६॥

वृष्णि वंशियों मांहि, स्वयं ही मुझे मानिये।
और पाण्डवों मध्य, सखा प्रिय तु ही जानिये॥
मुनियों में श्री व्यास, महा वक्ता पहिचानों।
कवियों में प्रिय चतुर, शुक्र तुम मुझको जानों ॥३७॥
हे भारत जो दण्ड, उस विषै दमन शक्ति हूँ।
जिनकी होती विजय, उन्हों में परम नीति हूँ ॥

गुप्त राखने योग्य, भाव में मौन कहाऊँ ।
ज्ञानवान का ज्ञान, ज्ञान का तत्व सुहाऊँ ॥३८॥
भूतों की उत्पति, रूप का मैं ही कारण ।
सकल चराचर जगत, किया मैंने ही धारण ॥
ऐसा कोई नहीं, जिस विषै जो मैं नहिं हूँ ।
निश्चय करके देख, सब जगह मैं ही मैं हूँ ॥३९॥
मेरी दिव्य विभूति, रूप का अन्त न पाया ।
कुछ थोड़ा विस्तार, तुम्हें कहकर समझाया ॥४०॥
जो जो भी ऐश्वर्य, युक्त पुनि विभूति सहितम् ।
सुन्दर क्रांति सयुक्त, और प्रिय शक्ति नियुक्तम् ॥
उस उस में जो तेज, अंश मेरा ही जानों ।
ऐसा वह उत्पन्न, हुआ मुझसे ही मानों ॥४१॥
हे अर्जुन अब बहुत, जानने से पुनि इसको ।
कहा प्रयोजन तुम्हें, श्रवण करने से जिसको ॥
मेरी परम प्रधान, योग माया के बल से ।
होय जगत उत्पन्न, एक ही अंश मात्र से ॥
इसीलिये हे पार्थ, चित्त मेरे में धर तू ।
अच्छी तरह विचार, रूप को निश्चय कर तू ॥४२॥

प्रेमामृत गीतायाम् श्री कृष्णार्जुन सम्वादे
विभूति योगो नाम दशमो अध्याय समाप्तम् ॥

* ग्यारहवाँ अध्याय *

एकादश अध्याय में, रूप विराट दिखाय ।
फेर चतुर्भुज रूप लखि, लक्ष्मण मन हरषाय ॥

अर्जुन कहने लगा, कृष्ण से प्रसन्न होकर ।
हे भगवन ये महा, अनुग्रह कीना मो पर ॥

परम गोप्य अध्यात्म, तत्त्व को सुनकर तुमसे ।
नष्ट हुआ अज्ञान, हृदय का निश्चय जड़से ॥ १ ॥

भूतों की उत्पति, प्रलय विस्तार सहित सब ।
सुन कर भली प्रकार, हुआ सन्तोष मुझे अब ॥
और आपका रूप, परम अविनाशी का भी ।
अच्छी तरह प्रभाव, सुना मैंने उसका भी ॥ २ ॥

जैसा तुमने कहा, ठीक ऐसा ही है ये ।
मैंने मेरे हृदय, सही कर लीना है ये ॥
परन्तु हे भगवान, ज्ञान पुनि ऐश्वर्य को ।
और शक्ति बल वीर्य, तेज के सहित रूप को ॥
जिसको अच्छी तरह, दिखाओ प्रत्यत्त मुझको ।
ये आशा अत्यन्त, लगी है मेरे मन को ॥ ३ ॥

मेरे द्वारा रूप, आपका जान सकों तो ।
यदि ऐसा इस तरह, आप जो मानत हो तो ॥
तो मुझ पर यह कृपा, आप निश्चय ही कीजै ।
अपना प्रिय अव्यक्त, रूप का दर्शन दीजै ॥ ४ ॥

अर्जुन की इस तरह, प्रार्थना सुनकर जब ही ।
कृष्ण चन्द्र मुसकाय, लगे कहने कों तब ही ॥
हे भारत मुझ विषै, सैकड़ों तथा हजारों ।
नाना वर्णाकृत, अलौकिक रूप निहारों ॥ ५ ॥

लख द्वादशहूँ पुत्र, अदिति के मेरे मांही ।
एकादस पुनि रुद्र, और वसुओं के तांही ॥
दोनों अश्विनि पुत्र, और प्रियमरुत गणोंको ।
देखो भली प्रकार, ध्यान के सहित उन्हों को ॥

और बहुत से रूप, लखे पहिले नहिं तुमने ।
जो अचरज से भरे, हुए देखोगे उन ने ॥ ६ ॥
मम शरीर के मांहि, चराचर सर्व जगत ही ।
देखो ठहरा हुआ, मुझ विषै एक जगह ही ॥
तथा और भी देख, देखना चावै जो कुछ ।
जो भी इच्छा होय, देख मुझ में ही सब कुछ ॥ ७ ॥
परन्तु मेरा रूप, कभी प्राकृति नेत्रों से ।
देख सकेगा नहीं, करोड़ों भी यत्नों से ॥
इसी लिये मैं दिव्य, नेत्र देता हूँ तुझको ।
योग शक्ति के सहित, तबहि देखेगा मुझको ॥ ८ ॥

❀ संजय बोले ❀

योगेश्वर श्री कृष्ण, इस तरह कह अर्जुन को ।
दिव्य रूप ऐश्वर्य, युक्त दिखलाया जिसको ॥ ६ ॥
तथा अनेकों नेत्र, अनेकों ही मुख वाले ।
अनेक अद्भुत रूप, अनेकों दर्शन वाले ॥
और बहुत से रूप, भूषणों सहित सुहाये ॥
हाथों में भी तरह, तरह के शस्त्र गहाये ॥१०॥
पुनि वस्त्रों के सहित, दिव्य मालायें पहरें ।
जिनके अंगों मांहि, सुगन्धित उठती लहरें ॥
ऐसा सीमा सहित, रूप पुनि विराट जिसने ।
आश्चर्यों से भरा, हुआ देखा अर्जुन ने ॥११॥
हे राजन जो सहस्र, उदय सूरज नभ मांही ।
सो प्रकाश उस विश्व, रूप के समान नाँही ॥१२॥
पुनि अचरज में हुआ, पाण्डु सुत देख रूप को ।
अनेक विधि से अलग, अलग लखि सकल जगत को॥

देवों के श्री देव, कृष्ण के शरीर में जब ।
लख ब्रह्मारड अनेक, तरह के एक जगह सब ॥१३॥

पुनि इसके उपरान्त, अचम्भित होकर भारी ।
हर्षित देह तमाम, भई रोमांचित कारी ॥
तब अर्जुन ने विश्व, रूप को प्रणाम करके ।
हाथ जोड़ कर कहा, हृदय में धीरज धर के ॥१४॥

❀ अर्जुन बोला ❀

हे देवों के देव, आपके शरीर माँही ।
लखे देव सम्पूर्ण, और ऋषियों के ताँही ॥
ब्रह्मा अरु श्रीरुद्र, देव बैठे कमलासन ।
जिसका अति विस्तार, बड़ा सुन्दर सुखमासन ॥
भूतों का समुदाय, प्रगट सब तेरे अन्दर ।
और बड़े ही दिव्य, सर्प भी देखे सुन्दर ॥१५॥

हे विश्वेश्वर रूप, आपका अति ही पावन ।
अनेक मुख पुनि पेट, हाथ प्रिय नेत्र सुहावन ॥
चहूँ ओर से तुम्हें, रूप वाला लखता हूँ ।
आदि अन्त पुनि मध्य, कहीं भी नहिं पाता हूँ ॥१६॥

हे विष्णो तुम मुकुट, युक्त पुनि गदा सहित हो ।
चक्र युक्त सब ओर, प्रकाशक तेज पुञ्ज हो ॥
और प्रज्वलित अग्नि, सूर्य सम ज्योति युक्त हो ।
पर लखने में गहन, अप्रमे परम रूप हो ॥१७॥

हे भगवन् इसलिये, आपको आपहि जानत ।
पार ब्रह्म परमात्म, परम अक्षर कर मानत ॥
इस सम्पूर्ण महान, जगत के आश्रय आपहि ।
हे प्रभो परम अनादि, धर्म के रक्षक आपहि ॥

पुनि अविनाशी रूप, सनातन पुरुष कहाते ।
मेरा तो मत यही, आपको सत्य बताते ॥१८॥

हे दयालु तुम आदि, अन्त पुनि मध्य रहित हो ।
अनन्त भुजा विशाल, महा सामर्थ्य सहित हो ॥
सूर्य और पुनि चंद्र, आप नेत्रों वाले हो ।
महा प्रज्वलित अग्नि, रूप सम मुख वाले हो ॥
उसी तेज से युक्त, हुए सम्पूर्ण जगत को ।
तपता हुआ महान, देखता हूँ मैं जिसको ॥१९॥

पृथ्वी अरु पुनि स्वर्ग, बीज आकाश दिखाये ।
एक रूप सब जगह, आपही आप समाये ॥
देख भयंकर रूप, अलौकिक अचरज ताको ।
तीनों लोक महान, व्याप्त हो रहे व्यथा को ॥२०॥

हे गोविन्द कृपालु, आप में सब देवन को ।
होते हुए प्रवेश, देखता हूँ मैं उनको ॥
भय से व्याकुल हुए, हाथ सब जोड़े फिरते ।
और आपके नाम, गुणों का कीर्तन करते ॥
महर्षि अथवा सिद्ध, लोग कल्याण आपको ।
होवे ऐसा कहें, परस्पर सभी आपको ॥
उत्तम उत्तम दिव्य, परम स्तोत्रों द्वारा ।
करते हैं गुणगान, इस तरह सबहि तुम्हारा ॥२१॥

जो एकादश रुद्र, और द्वादश पुत्रन को ।
तथा अष्ट वसु समझ, और प्रिय साध्य गणन को ॥
विश्वे देव महान, और सुत अश्वनी जाने ।
पितरों को समुदाय, मरुतगण सकल बखाने ॥

और सिद्ध गण लोग, यक्ष राक्षस किन्नरही।
विस्मित हुए महान, आपको देखें सब ही ॥२२॥

बहुत उदर मुख नेत्र, हाथ पग जंघा वाले।
अति विकराल महान, भयानक डाढ़ों वाले॥
जिसे देखकर लोग, होरहे व्याकुल भारी।
मैं भी व्याकुल हुआ, जाय नहिं तुम्हें निहारी ॥२३॥

हे विष्णो आकाश, साथ तुम लगे हुए हो।
दीप्यमान मुख रूप, आप फैलाय हुए हो॥
प्रकाश मान विशाल, युक्त नेत्रों से तुमको।
होता है भयभीत, देख कर अंतश जिसको॥
इसीलिये यह रूप, हृदय में नहीं समाता।
हे भगवन क्या कहूँ, शान्ति को भी नहिं पाता ॥२४॥

महा प्रबल विकराल, आपकी डाढों में ही।
प्रलय काल की अग्नि, प्रज्वलित लख मुखमें ही॥
ऐसा रूप निहार, दिशाओं को नहिंजानूं।
सुख को भी नहिं प्राप्त, आपसे सत्य बखानूं॥
हे देवेश प्रसन्न, आप मुझ पर होवेंगे।
मेरा ये सन्ताप, अवशि आपहि खोवेंगे ॥२५॥

देखे कौरव पुत्र, तुम्हारे मुख के माँहीं।
राजाओं के सहित, लखूं उन सबके ताँहीं॥
भीष्मपिता गुरु द्रोण, करण भी देखे जिसमें।
और हमारे निजी, हितैषी देखे इसमें ॥२६॥

बड़े वेग के सहित, मुखों के अन्दर घुसकर।
कई एक पुनि चूर्ण, हुए डाढों से पिसकर॥

दीखें शिर धड़ हाथ, पाँव उलझे दाँतों में।
और बहुत से वीर, लखूँ अन्दर आँतों में ॥२७॥

जल प्रवाह जिस तरह, सिन्धु के सन्मुख जाते।
उसी भांति सब वीर, आपके मुख में आते ॥२८॥

जैसे सभी पतंग, मोह के बस में आकर।
बड़े वेग के साथ, अग्नि में गिरते जाकर ॥
वैसे ही सब लोग, नष्ट होने के ताँही।
होते सबहि प्रवेश, आपके मुख के माँही ॥
और आप सम्पूर्ण, लोक लोकों के ताँही।
महा प्रज्वलित अग्नि, रूप पुनि मुख के माँही ॥२९॥

जिसके द्वारा ग्रसन, कर रहे लोक सबों को।
चहूँ ओर से आप, चाट भी रहे उन्हों को ॥
महान उग्र प्रकाश, आपका सकल जगत को।
बड़े तेज के साथ, तपाता है वह सबको ॥३०॥

हे भगवन यह कृपा, आपकी होनी चहिये।
उग्र रूप तुम कौन, इसे मेरे से कहिये ॥
हे देवों के देव, आपको नमस्कार है।
होवो परम प्रसन्न, आपका यही प्यार है ॥
अखण्ड आदि स्वरूप, आपका अचल ध्यान से।
जिस जानना चहूँ, अवशि मैं तत्व ज्ञान से ॥
नहिं जानूं मैं प्रकृति, आपकी जाने क्या है।
इसका निज सारांश, मुझे समझाओ क्या है ॥३१॥

❀ श्री भगवान बोले ❀

हे अर्जुन मैं नष्ट, करन को प्रगट हुआऊँ।
लोकों का भी काल, महा अति काल कहाऊँ ॥

विपक्षियों की सेन, मध्य जो वीर कहावें।
वे सब तेरे लड़े, बिना आपहि मर जावें ॥३२॥

हे पारथ हो खड़ा, बुद्धि को रखिये अब थिर।
कर तू यश को प्राप्त, समय नहिं पावे यह फिर ॥
विपक्षियों को जीत, राज्य धनधान्य सहित अब।
भोगो भली प्रकार, भोग पृथ्वी के तुम सब ॥
मेरे द्वारा सभी, वीर यह मरे दिखाते।
तुम तो केवल निमित, मात्र ही समझे जाते ॥३३॥

द्रोण भीष्म पुनि कर्ण, जयद्रथ प्रबल सुभट अब।
जितने भी ये वीर, मार रक्खे मैंने सब ॥
मेरे मारे हुए, मरे वीरों को मारो।
भय का नहिं कुछ काम, धैर्यता मन में धारो ॥
हे पारथ तू अवशि, वैरियों को मारेगा।
इसीलिये कर युद्ध, कभी तू नहिं हारेगा ॥३४॥

(संजय बोला)

हे राजन धृतराष्ट्र, मुकुट धारी तब अर्जुन।
खड़ा काँपता हुआ, हाथ जोड़त है अर्जुन ॥
होकर अति भयभीत, कृष्ण को प्रणाम करके।
गदगद वाणी हुआ, वचन बोला नव करके ॥३५॥

(अर्जुन बोला)

हे भगवन यह योग्य, आप ऐसे ही पाये।
सुन्दर नाम प्रभाव, कीर्तन प्रगट लखाये ॥
जिसके द्वारा सबहि, जगत अति हर्षित होता।
और परम अनुराग, प्राप्त भी उनको होता ॥

परन्तु राक्षस लोग, दिशाओं को भागत हैं।
होकर अति भयभीत, देह जिनके काँपत हैं॥
और सिद्ध गण सबहि, आपको प्रणाम करते।
पुनि इसके उपरान्त, मनोहर नाम सुमरते॥३६॥

ब्रह्मा के भी आप, आदि कर्त्ता सब जानत।
फिर वे तुम्हें प्रणाम, साथ क्योंकर नहिं मानत॥
हे अनन्त देवेश, असत सत परे निहारे।
अक्षर परमानन्द, ब्रह्म ही रूप तुम्हारे॥३७॥

आदि देव जो पुरुष, सनातन आप जगत के।
परम आश्रय रूप, जानने वाले सबके॥
और जानने योग्य, आपका धाम बताया।
तुमसे ये सब जगत, व्याप्त परिपूर्ण लखाया॥३८॥

अग्नि वायु यमराज, चन्द्रमा और वरुण भी।
ब्रह्मा सबका पिता, आप पुनि ब्रह्मा के भी॥
इसीलिये हे नाथ, आपको नमस्कार है।
और हजारों बार, आपको नमस्कार है॥
फिर भी बारम्बार, हमारी नमस्कार है।
नमस्कार है नमस, कार है नमस्कार है॥३९॥

हे महान सामर्थ्य, रूप मम प्रणाम तुमको।
आगे पीछे सबहि, ओर पुनि प्रणाम तुमको॥
तुम अनन्त बल रूप, जगत को व्याप्त किये हो।
इसीलिये हे देव, सब जगह जान लिये हो॥४०॥

पहले तेरा रूप, जानने में नहिं आया।
अब प्रभाव के सहित, रूप मैंने लख पाया॥

अथवा मेरा प्रेम, और कुछ प्रमाद द्वारा।
हे यादव हे कृष्ण, सखा कह वचन उचारा॥
इस प्रकार के वचन, बड़े हट पूर्वक बोले।
जिससे मेरा चित्त, हुआ विचलितसा डोले॥४१॥

हँसते हँसते संग, आप हम भोजन करते।
जहाँ कहीं भी जाँय, संग ही संग विचरते॥
एकहि आसन बैठ, एक शैया पर सोये।
हे भगवन् ये पाप, भूलकर मैंने बोये॥
इकले अथवा सखा, सामने मैंने तुमको।
अपमानित भी किया, बहुत अब जाने तुमको॥
हे अचिन्त सर्वज्ञ, अप्रमे स्वरूप तेरा।
हे दयालु अपराध, क्षमा करदे तू मेरा॥४२॥

हे विश्वेश्वर रूप, चराचर सकल जगत के।
माता अरु पुनि पिता, आपही जानों सबके॥
गुरुओं से भी बड़े, परम गुरु पूज्य कहाये।
अति प्रभाव से युक्त, शक्ति शाली बतलाये॥
तुम समान नहिं और, लोक तीनों के मांहीं।
तुम हो सबसे बड़े, दूसरा कोई नाहीं॥४३॥

हे गोविन्द कृपालु, देह चरणों में धरके।
अच्छी तरह प्रणाम, और अस्तुति भी करके॥
हे देवेश प्रसन्न, तुम्हें होने के कारण।
करता हूँ मैं नम्र, प्रार्थना को उच्चारण॥
जिस प्रकार से पिता, पुत्र के बर्तें सँग में।
मित्र मित्र के साथ, पती पत्नि के सँग में॥

वैसे ही मम ओर, प्रेम से ध्यान दीजिये।
जो भी कुछ अपराध, उसे अब सहन कीजिये ॥४४॥

जो अचरज मय रूप, कभी पहले नहिं दर्शित।
उसे इस समय देख, हुआ मेरा मन हर्षित ॥
अथवा भय भी प्राप्त, हुआ भारी पुनि मनको।
वही चतुर्भुज रूप, दिखाओ फिर से मुझको ॥
हे देवेश महान, भयानक भय को खोवो।
मुझको अपना जान, अवशही प्रसन्न होवो ॥४५॥

हे विष्णो अब मुकुट, गदा पुनि चक्र युक्त हो।
लिये हुए हो हाथ, इस तरह शुभ दर्शन हो ॥
हे विश्वेश्वर रूप, हजारों भुजान वाले।
मुझे चतुर्भुज रूप, दिखा हे मुरली वाले ॥४६॥

इस प्रकार की विनय, युक्त वाणी को सुनकर।
अर्जुन से तब कृष्ण, चन्द्र यों बोले हँसकर ॥
हे भारत ये परम, अनुग्रह पूर्वक तुमको।
मैंने अपनी योग, शक्ति के द्वारा जिसको ॥
मेरा परम प्रभाव, रूप तेजों में छाया।
सबका आदि स्वरूप, हद्द से परे बताया ॥
ऐसा महा विराट, रूप तुमको बतलाया।
तुम सिवाय ये पूर्व, किसी को नहीं दिखाया ॥४७॥

मनुष लोक के विषै, इस तरह से जो मैंने।
धारण किया विराट, रूप जो देखा तैंने ॥
नहिं देखें यह रूप, वेद अध्ययन किये से।
यज्ञों से भी नहीं, नहीं पुनि दान दिये से ॥

उग्र तपों से नहीं, नहीं पुनि साधन द्वारा।
ऐसा अद्भुत रूप, किसी ने नहीं निहारा ॥४८॥
तुमने मेरा लखा, महा विकराल रूप को।
व्याकुल अरु पुनि मूढ़, भाव भी नहिं हो तुमको॥
प्रीति युक्त भय रहित, हुए मन वाले हो तुम।
शङ्ख चक्र अब गदा, पद्म के सहित लखो तुम ॥४६॥

(सञ्जय बोला)

इस प्रकार के मधुर, वचन कहकर अर्जुन को।
परम चतुर्भुज रूप, धार बतलाया उसको॥
और मनोहर सौम्य, मूर्ति को धारण कीन्हा।
उस अर्जुन भयभीत, हुए को दर्शन दीन्हा ॥५०॥

(अर्जुन बोला)

हे भगवन अतिशान्त, मनुष का रूप तुम्हारा।
जिसे देखकर शान्त, चित्त होगया हमारा॥
निज स्वभाव भी प्राप्त, हुआ सुन्दर निश्चयकर।
हे दयालु ये कृपा, आपने कीन्हीं मुझ पर ॥५१॥

(श्री भगवान् बोले)

हे अर्जुन यह रूप, चतुर्भुज दुर्लभ माना।
जिसको अच्छी तरह, सुलभ कर तुमने जाना॥
तरसें देव तमाम, हर समय मम दर्शन को।
परन्तु ये प्रिय रूप, चतुर्भुज दुर्लभ उनको ॥५२॥
यज्ञ दान तप वेद, पाठ करके भी जिसको।
देख सके नहिं कोय, दिखाया जैसा तुमको ॥५३॥
करके भक्ति अनन्य, तत्व से जानन हारा।
देख सके है वही, चतुर्भुज रूप हमारा॥

मुझमें होय प्रवेश, रूप का लखने वाला ।
अथवा एकहि भाव, प्राप्त कर लेने वाला ॥५४॥
हे भारत जो पुरुष, सभी कुछ मेरे ताँही ।
समझै भली प्रकार, भाव ऐसा मन माँही ॥
यज्ञ दान तप होम, आदि सम्पूर्ण कर्म को ।
करिके भली प्रकार, करे जो अर्पण मुझ को ॥
ऐसा करता हुआ, शरण मेरी में आता ।
स्त्री पुत्र धनादि, सभी से नेह हटाता ॥
भूत प्राणियों साथ, वैर को जड़ से खोता ।
ऐसा भक्त अनन्य, प्राप्त वह मुझको होता ॥५५॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्रीकृष्णार्जुन संवादे
विश्व रूप दर्शन योगो नाम एकादशो अध्याय समाप्तम्

* बारहवाँ अध्याय *

पुनि द्वादश अध्याय में, भक्ति योग का सार ।
प्रेमी लछमण दास अब, निशि दिन करे प्रचार ॥

(अर्जुन बोला)

हे मन मोहन मुझे, तत्व फिर से समझाओ ।
निर्गुण अरु पुनि सगुण, रूप का भेद बताओ ॥
जो अनन्य प्रिय भक्त, आपको भजने वाला ।
सगुण रूप का ध्यान, निरन्तर करने वाला ॥
जो अविनाशी अलख, ब्रह्म को भजता प्राणी ।
उन दोनों में योग, वेत्ता कौन बखानी ॥ १ ॥
हे अर्जुन जो पुरुष, निरन्तर मुझे सुमरते ।
मन को कर एकाग्र, ध्यान चरणों में धरते ॥
अतिशय श्रद्धा युक्त, हुए मुझ सगुण रूप को ।
भजते भली प्रकार, जान तू उत्तम उनको ॥

वे योगी अति मान्य, योगियों में प्रिय जानों ।
उनहीं को अति परम, श्रेष्ठ योगी पहिचानों ॥ २ ॥

इन्द्रिन को समुदाय, आपने बस में करके ।
अथवा मन पुनि बुद्धि, इन्हों से परे सुमरके ॥
सच्चिद घन आनन्द, नित्य सर्वत्र स्वरूपम् ।
निराकार अव्यक्त, अचिन्तम अचल अनूपम् ॥३॥

इन नामों का ध्यान, चिंतमन एक भाव से ।
भजते हैं वे पुरुष, निरन्तर बड़े चाव से ॥
भूतों में हित परम, भाव सम जिन के पाये ।
वे ही योगी महा, श्रेष्ठ मुझ मांहि समाये ॥ ४ ॥

परन्तु जो अव्यक्त, रूप पुनि निराकार है ।
जिसका नहिं आधार, निरंजन निराधार हैं ॥
उसका साधन कठिन, देह अभिमानी द्वारा ।
जिसमें परिश्रम बहुत, दुःखमय जाय निहारा ॥
जब तक निज अभिमान, देह का मिट नहिं जाता ।
तब तक वह अव्यक्त, रूप को भी नहिं पाता ॥ ५ ॥

मेरे में ही नित्य, परायण हुए भक्त जन ।
जो भी कुछ कर्त्तव्य, कर्म सब करते अर्पण ॥
सगुण रूप मुझ विषै, निरन्तर ध्यान रखैं हैं ।
पुनि अनन्य प्रिय प्रेम, पाय मम नाम जपैं हैं ॥ ६ ॥

मुझ में ऐसा चित्त, जिन्होंने लीन किया है ।
आशाओं से चित्त, उन्होंने खींच लिया है ॥
उन भक्तों का दुःख, शीघ्रही अवशि हरूँ हूँ ।
मृत्यु रूप संसार, सिंधु से पार करूँ हूँ ॥ ७ ॥

हे अर्जुन मन बुद्धि, लगा तू मम चरणन में।
होगा मुझको प्राप्त, तनिक नहिं संशय इसमें ॥ ८ ॥

यदि तू मन को अचल, मुझ विषै नहिं रख सकता।
तो पुनि इसका यत्न, दूसरा भी कर सकता ॥
है पारथ अभ्यास, योग के द्वारा अब तू।
मेरे को पुनि प्राप्त, होय इच्छा ये कर तू ॥ ९ ॥

अथवा यह अभ्यास, योग भी नहिं हो तुम से।
इसका भी पुनि यत्न, और भी सुन तू मुझसे ॥
तो केवल कर कर्म, परायण होकर मेरी।
निश्चय ही मुझ विषै, प्राप्ति होवेगी तेरी ॥१०॥

यदि ये भी नहिं होय, और भी यत्न बताऊँ।
जिसको अच्छी तरह, भली विधि से समझाऊँ ॥
मन से जो उत्पन्न, वासना सभी खोयकर।
मेरी प्राप्ति स्वरूप, योग के शरण होय कर ॥
पुनि इसके उपरान्त, कर्म को निश्चय कर तू।
परन्तु फल के लिये, भेंट मेरे ही कर तू ॥
बिना मर्म पहिचान, पुरुष अभ्यास करै है।
उससे तो अति श्रेष्ठ, परोत्तम ज्ञान परै है ॥
इससे भी अति परै, श्रेष्ठ मम ध्यान सुहाया।
ध्यान परे अति श्रेष्ठ, कर्म फल त्याग बताया ॥
तब मन की फल रूप, वासना अवशि खोय है।
उसी समय तत्काल, शान्ति को प्राप्त होय है ॥१२॥

इस प्रकार की शान्ति, प्राप्त होते ही उनको।
भूतों में पुनि द्वेष, भाव नहिं रहता जिनको ॥

अथवा स्वारथ रहित, दयालु प्रेमी बनकर।
सुख दुख एक समान, और ममता को तजकर॥
अहङ्कार से रहित, बड़ा ही क्षमावान है।
अपराधी के लिये, देत पुनि अभयदान है॥१३॥

ध्यान योग से युक्त, निरन्तर हानि लाभ में।
रहता है सन्तुष्ट, परम आनन्द भाव में॥
मन इन्द्रिय पुनि देह, सभी बस में कर लीनी।
निश्चलता को धार, मुझे अर्पण कर दीनी॥
ऐसा दृढ़ विश्वास, बुद्धि में जो रखता है।
हे भारत वह भक्त, मुझे प्यारा लगता है॥१४॥

ऐसा जन उद्वेग, किसी को नहिं पहुँचाता।
और स्वयं उद्वेग, किसी से भी नहिं पाता।
अथवा हर्ष अमर्ष, और भय भी नहिं जिसको।
हे अर्जुन वह भक्त, बड़ा ही प्यारा मुझको॥१५॥

ऐसी इच्छा रहित, नहीं संकल्प उठावे।
भीतर बाहर शुद्ध, और प्रिय चतुर कहावे॥
दुःखों से छुट जाय, सर्व आरम्भ तोड़कर।
करता पन का अहं, भाव अभिमान छोड़कर॥
पक्ष पात से रहित, किसी को नहीं सतावे।
हे पारथ वह भक्त, मुझे अत्यन्त सुहावे॥१६॥

पुनि हर्षित नहिं होय, सोच भी नहिं करता है।
सकल कामना रहित, द्वेष भी नहिं रखता है॥
अथवा शुभ पुनि अशुभ, कर्म के फल को त्यागे।
इस प्रकार का भक्त, मुझे अति प्यारा लागे॥१७॥

शत्रु मित्र को एक, बराबर लखने वाला।
तथा मान अपमान, विषै सम रहने वाला॥
सर्दी गर्मी और, दुःख सुख द्वन्दों माँहीं।
पुनि आसक्ति मिटाय, रखै मन उनमें नाँहीं॥१८॥
अस्तुति निन्दा मांहि, कभी वह नहीं परै है।
ईश्वर में रख चित्त, निरन्तर मनन करै है॥
शरीर का निर्वाह, जिस तरह हो जग माँहीं।
रहता परम प्रसन्न, और संतुष्ट सदाहीं॥
जिस घर में वो रहे, मोह ममता नहिं लावे।
ऐसा जो थिर बुद्धि, भक्त मेरे को पावे॥१६॥
हे अर्जुन जो पुरुष, आश्रय मेरा लेते।
सभी ओर से खींच, चित्त मुझ में ही देते॥
सबका आत्म स्वरूप, परम प्रिय पूज्य समझकर।
करके प्रेम विशुद्ध, हुए रहते वे तत्पर॥
पुनि श्रद्धा से युक्त, वृथा आशाऐं खोकर।
भजते हैं मम नाम, परायण मेरी होकर॥
मैंने ऊपर कहे, धर्म मय प्रिय अमृत को।
जिसका सेवन करे, भक्त वह प्यारा मुझको॥२०॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्रीकृष्णार्जुन संवादे
भक्ति योगो नाम द्वादशो अध्याय समाप्तम्

* तेरहवाँ अध्याय *

त्रयोदशी अध्याय में, क्षेत्र विभाग सुजान।
प्रेमी लक्ष्मणदास ने, किया कृष्ण गुण गान॥

श्री भगवान बोले

हे अर्जुन ये देह, क्षेत्र नामक दर्शावे।
जिसका जानन हार, वही क्षेत्रज्ञ कहावे॥

इसको अच्छी तरह, तत्व के द्वारा प्राणी।
जाने भली प्रकार, उसी को मानों ज्ञानी ॥ १ ॥

सब क्षेत्रों में मुझे, जीव क्षेत्रज्ञ समझ तू।
इसका तत्व विशेष, और भी आगे लख तू ॥
प्रकृति पुरुष का रूप, जानना ज्ञान मानिये।
है मेरा मत यही, इसे तू सत्य जानिये ॥ २ ॥

हे पारथ यह क्षेत्र, विकारों वाला जानो।
जिस कारण से हुआ, उसे भी तुम पहिचानो ॥
पुनि प्रभाव से युक्त, रूप क्षेत्रज्ञ बताऊँ।
रखिये जिसमें ध्यान, उसे मैं तुम्हें सुनाऊँ ॥ ३ ॥

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ स्वरूप, तत्व ऋषियों के द्वारा।
बहुत तरह से समझ, उन्होंने इसे उचारा ॥
पुनि विभाग के सहित, वेद मन्त्रों ने गाया।
वैसा ही सारांश, ब्रह्म सूत्रों में पाया ॥ ४ ॥

उसी कथन के लिये, सुनाऊं श्रवण करो तुम।
जिस पर अच्छी तरह, प्रेम से ध्यान धरो तुम ॥
पञ्च भूत का प्रथम, रूप तुमको समझाते।
पृथ्वी जल आकाश, पवन पुनि अग्नि बताते ॥
अथवा सूक्ष्म भूत, उन्हें भी जान लीजिये।
अहंकार मन बुद्धि, चित्त पर ध्यान दीजिये ॥
मेरी मूल प्रधान, प्रकृति पुनि त्रिगुण मयीको।
जानो कारण रूप, रचे है यही सभी को ॥
इन्द्रिय दश पहिचान, विषय भी जिनके दश हैं।
हे अर्जुन सम्पूर्ण, भूत इनके ही बस हैं ॥

ज्ञान इन्द्रिये पाँच, पाँच ही विषय समारो।
त्वचा श्रवण पुनि नेत्र, रसन प्रिय घ्राण निहारो॥
कर्म इन्द्रियें पाँच, पाँच ही विषय उन्हों के।
वाक्य पाणि पद गुदा, शिशन पुनि नाम जिन्हों के॥
पहिले शब्द स्पर्श, रूप रस गन्ध पिछानों।
ये ही विषय महान, ज्ञान इन्द्रिन के जानों॥
बोले चाले ग्रहण, त्याग मल मूत्र समझिये।
हे भारत ये विषय, कर्म इन्द्रिन के लखिये॥ ५॥

अथवा ऊपर लिखे, क्षेत्र का विकार कहते।
इच्छा पुनि द्वेषादि, दुःख सुख जिसमें रहते॥
धृति चेतनता पिण्ड, रूप अस्थूल बताया।
ऐसा तुमको क्षेत्र, विकारों सहित लखाया॥ ६॥

प्रतिष्ठता का कभी, उसे अभिमान नहीं हो।
अथवा दम्भाचरण, हृदय में भाव नहीं हो॥
किसी जीव के लिये, कभी वह नहीं दुखावे।
श्रद्धा से गुरूदेव, भक्ति में चित्त लगावे॥
मन वाणी के विषै, सरलता रखने वाला।
और क्षमा के लिये, पालना करने वाला॥
अथवा अन्तः करण, मध्य में थिरता होवे।
भीतर बाहर शुद्ध, मलिनता जड़से खोवे॥
मन इन्द्रिय पुनि देह, सबहि को निग्रह कीन्हा।
उनने तो सब तरह, आश्रय मेरा लीन्हा॥ ७॥

लोक और परलोक, मध्य सम्पूर्ण भोग में।
रखते नहिं आसक्ति, उस विषै कभी लोभ में॥

अहङ्कार से रहित, जन्म पुनि मृत्यु जरा को।
रोग दुःख दोषादि, करैं हैं विचार ताको ॥ ८ ॥

स्त्री पुत्र धनादि, और वह घर के अन्दर।
नहिं रखता आसक्ति, भक्त यह अति ही सुन्दर ॥
शत्रु मित्र के मिले, चित्त को सम रखता है।
हर्ष और शोकादि, विकारों को तजता है ॥
जो मन के अनुकूल, हुए पर सुख नहिं कोई।
अथवा हो प्रतिकूल, उस विषै दुख नहिं होई ॥ ९ ॥

मुझमें एकहि भाव, रूप थिर ध्यान योग से।
अव्यभिचारिणि भक्ति, करै हट विषय भोग से ॥
शुद्ध भूमि एकान्त, देश में सब कुछ सहना।
परन्तु विषयासक्त, पुरुष से बचते रहना ॥१०॥

हे अर्जुन अध्यात्म, ज्ञान में ठहर तत्व को।
अर्थ रूप सर्वत्र, देखता है ईश्वर को ॥
कहें इसी को ज्ञान, ब्रह्म सब जगह जानिये।
जो इससे विपरीत, उसे अज्ञान मानिये ॥११॥

जो जानन के योग्य, जानना चहिये उसको।
जिसे जानकर पुरुष, प्राप्त होता है सुख को ॥
उसको अच्छी तरह, कहूँगा अब मैं तुमको।
समझो भली प्रकार, बुद्धि के द्वारा जिसको ॥
आदि रहित पर ब्रह्म, अकथनी रूप सुहावे।
नहिं तो वो है असत, सत्य भी नहीं कहावे ॥१२॥
परन्तु वह सब ओर, हाथ पुनि पैरों वाला।
और श्रवण पुनि नेत्र, हजारों शिर मुख वाला ॥

ऐसा वह पर ब्रह्म, सब जगह समा रहा है।
होकर के वह व्याप्त, सभी में ठहर रहा है ॥१३॥

हे भारत सम्पूर्ण, इन्द्रियों के विषयों को।
जानत भली प्रकार, उन्हों में ठहर सबों को ॥
परन्तु उनमें कभी, लालसा नहिं रखता है।
गुणातीत पुनि हुआ, गुणों में नहिं बँधता है ॥
अपनी प्रबल महान, योग माया के द्वारा।
धारण पोषण करे, गुणों का भोगन हारा ॥१४॥

उस ईश्वर का रूप, चराचर भूतों मांहीं।
बाहर भीतर रमा, हुआ परिपूर्ण सदांहीं ॥
अथवा चर पुनि अचर, रूप भी आप कहावै।
परन्तु सूक्ष्म रूप, अविग्ये माना जावै ॥
अति समीप भी समझ, दूर भी समझो उसको।
ऐसा दूर समीप, सबहि में समझो जिसको ॥१५॥

पुनि विभाग से रहित, हुआ वह एक रूप से।
है आकाश समान, कहीं खाली नहिं जिससे ॥
ऐसा होता हुआ, चराचर सब भूतन में।
अलग अलग पुनिभेद, जान पड़ता है उनमें ॥
वही जानने योग्य, रूप प्रिय परमेश्वर का।
विष्णु रूप से हुआ, करै वह पोषण सबका ॥
ब्रह्मा बनकर सकल, जगत को पुनि रच देता।
रुद्र रूप को धार, आप में लय कर लेता ॥१६॥

हे अर्जुन वह ब्रह्म, जोतियों का भी जोती।
पुनि माया से परै, झलक प्रिय प्रतीत होती ॥

ऐसा जोति सरूप, जानने योग्य बताया।
तत्व ज्ञान के साथ, हृदय सबके ठहराया ॥१७॥

क्षेत्र और प्रिय ज्ञान, भेद तुमको समझाया।
ईश्वर का भी तत्व, मनोहर तुम्हें जनाया ॥
जिसे जानकर भक्त, चित्त को नहीं डुलावे।
ऐसा ज्ञानी पुरुष, शीघ्र ही मुझको पावे ॥१८॥

प्रकृति और प्रिय जीव, तत्व लखि इन दोउन को।
जान अनादि सरूप, पार पाया नहिं जिन को ॥
त्रिगुण मयी जो प्रकृति, सबहि कुछ करती धरती।
तथा राग द्वेषादि, विकारों को भी करती ॥१९॥

कार्य अथवा करण, प्रकृति इनको प्रगटाती।
इन दोनों का हेतु, रूप जो पाई जाती ॥
जीव आत्मा नित्य, जान इसको भी ले तू।
सुख दुःखों का भोग, भोगने में ये हेतू ॥२०॥

प्रकृति मध्य ये जीव, आत्मा ठहर रहा है।
उसी प्रकृति उत्पन्न, गुणों को बर्त रहा है ॥
हे पारथ ये गुणहिं, आत्मा को ले जाते।
अच्छी अथवा बुरी, योनियों में भटकाते ॥२१॥

सब देहों के विषै, पुरुष यह बसा हुआ है।
पर माया से अलग, सर्वथा छुटा हुआ है ॥
केवल साक्षी रूप, हुआ उपद्रष्टा जानों।
ज्यों का त्यों जो कहैं, उसे अनुमन्ता मानों ॥
सबको धारण करै, उसे ही भर्ता माना।
भोग भोगता हुआ, जीव का रूप बखाना ॥

ब्रह्मादिक के पुण्य, महेश्वर स्वामी जाने ।
शुद्ध सच्चिदानन्द, हुए ईश्वर पहिचाने ॥२२॥

इस प्रकार से पुरुष, प्रकृति के सबहि गुणन को ।
जानें अच्छी तरह, तत्व के द्वारा उनको ॥
इसी न्याय अनुसार, बर्तता है जग माँही ।
पुनर्जन्म को प्राप्त, पुरुष वह होता नाँही ॥२३॥

परम ब्रह्म परमात्म, पुरुष को कितने ही तो ।
सूक्ष्म शुद्ध महान, बुद्धि के द्वारा ही तो ॥
इसी बुद्धि के साथ, ध्यान से लखते उसको ।
कितने ही प्रिय ज्ञान, योग से देखें जिसको ॥
कई एक निष्काम, योग के द्वारा दर्शन ।
पाते भली प्रकार, कर्म को करके अर्पण ॥२४॥

परन्तु दूजे पुरुष, मन्द है बुद्धि जिन्हों की ।
स्वयम् जानते नहीं, व्यवस्था सुनो उन्हों की ॥
हे अर्जुन वे पुरुष, दूसरों से सुन करके ।
करते हैं दृढ़ भक्ति, चित्त मेरे में धर के ॥
उन पुरुषों के कहे, हुए वचनों के द्वारा ।
पुनि श्रद्धा के सहित, साधना करने हारा ॥
सुनकर आश्रय लिया, हुआ भी मुझको पाता ।
मृत्यु रूप संसार, सिन्धु से वह तर जाता ॥२५॥

जो कुछ जड़ चेतन्य, वस्तुऐं परें दिखाई ।
सबहि श्रेष्ठ क्षेत्रज्ञ, संग पाकर उपजाई ॥
प्रकृति पुरुष मिलसर्व, जगत उत्पन्न भया है ।
पर क्षण भंगुर नाश, जगत ये कहा गया है ॥२६॥

ऐसा जाने हुए, चराचर भूतों माँही।
नास रहित समभाव, लखै ईश्वर के ताँही॥
सब में ठहरा हुआ, देखता है जो जिसको।
वोही अच्छी तरह, देखता है वह उसको॥२७॥

सब में लख समभाव, समझता है ईश्वर को।
नष्ट नहीं कर सकै, आप आपहि अपने को॥
देह नाश हो जाय, आत्मा नाश नहीं हो।
जिसने ऐसा लखा, मोक्ष को प्राप्त वही हो॥२८॥

हे अर्जुन वह पुरुष, प्रकृति मय सर्व कर्म को।
जानत भली प्रकार, तत्व के द्वारा उसको॥
जितने भी सम्पूर्ण, प्रकृति से गुण उपजे हैं।
वे सब आपहि आप, गुणों में गुण वर्तें हैं॥
ज्ञानी उसके विषै, अकर्ता समझ आत्मा।
वह कुछ करता नहीं, इस तरह लखै आत्मा॥२९॥

उसी काल में पुरुष, भागपुनि अलगअलग को।
एक जगह प्रिय रूप, देखता है वह सब को॥
भूतों का आधार, रूप ईश्वर को माने।
उससे ही उत्पत्ति, हुई सबकी वह जाने॥
इस प्रकार विस्तार, सहित जाने ईश्वर को।
उसी समय पर ब्रह्म, प्राप्त होता है जिसको॥३०॥

अनादि ब्रह्म सरूप, गुणों से रहित जानिये।
शरीर में थिर हुआ, वही निज आत्म मानिये॥
ऐसा रहता हुआ, देह में बँधे नहीं है।
परन्तु कुछ कर्त्तव्य, आप पुनि करै नहीं है॥३१॥

जिस प्रकार आकाश, व्याप्त सर्वत्र सुहावे ।
है वो सूक्ष्म रूप, इसी से नहिं बँध पावे ॥
वैसे ही सर्वत्र, देह में आत्म विचारो ।
गुणातीत पुनि हुआ, गुणों से परे निहारो ॥३२॥
जैसे एकहि सूर्य, सकल ब्रह्माण्ड पिण्ड को ।
करता परम प्रकाश, दिव्य सम्पूर्ण अखण्ड को ॥
इसी तरह से आत्म, क्षेत्र को प्रकाशता है ।
जिसकी सत्ता पाय, वर्ग जड़ सुभाषता है ॥३३॥
इस प्रकार क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र का भेद लखाया ।
जिसको अच्छी तरह, तुम्हें मैंने समझाया ॥
पुनि विकार के सहित, प्रकृति से छूटै वोही ।
ज्ञान नेत्र को पाय, तत्व से जाने सो ही ॥
वे ही ज्ञानी पुरुष, महात्मा जाने जाते ।
परम ब्रह्म परमात्म, प्राप्त वे ही कर पाते ॥३४॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्री कृष्णार्जुन संवादे
क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योगो नाम त्रयोदशो अध्याय समाप्त

चौदहवाँ अध्याय

चतुर दशी अध्याय में, सत, रज, तम का ज्ञान ।
गुणत्रय योग विभाग करि, लखन दास निर्मान ॥

(श्री भगवान बोले)

हे अर्जुन यह ज्ञान, महा उत्तम ही जाना ।
जिसको तेरे लिये, और चाहूँ समझाना ॥
उसको मुनि जन जान, जगत से मुक्त होगये ।
परम सिद्धि को प्राप्त, हुए सब दुःख खोगये ॥ १ ॥
उसी ज्ञान के लिये, हृदय में धारण करके ।
होते हैं लव लीन, चित्त को मुझमें धरके ॥

इस प्रकार के पुरुष, सृष्टि के आदि कालमें।
होते नहिं उत्पन्न, कभी वे जगत जालमें॥
प्रलय काल की ताप, उन्हें पुनि नहीं सतावे।
मुक्त सिवाय कछु और, जिन्हें कुछ नहीं लखावे॥ २॥

मेरा त्रिगुण सरूप, महा माया पहिचानों।
जितने भी भूतात्म, उन्हों की योनी जानों॥
उसमें चेतन रूप, बीज को मैं रखता हूँ।
जड़ चेतन संयोग, पाय सबको रचता हूँ॥ ३॥

हे अर्जुन सम्पूर्ण, भूत नाना योनिन से।
होते हैं उत्पन्न, सबहि प्राणी इस ढब से॥
त्रिगुण रूप जो प्रकृति, गर्भ को धारण वाली।
उसको माता जान, सबहि प्रगटाने वाली॥
पिता रूप मैं हुआ, बीज को धरने वाला।
इसी लिये समभाव, सबों में रखने वाला॥ ४॥

सात्त्विक राजस और, तमोगुण को बतलावें।
ये तीनों गुण प्रबल, प्रकृति द्वारा उपजावें॥
जिससे ये अव्यक्त, आत्मा शरीर माँही।
इन तीनों से बँधा, हुआ है छुटता नाहीं॥ ५॥

उन तीनों में परम, प्रकाशकसात्त्विक जानों।
निर्मल निर्गुन रूप, ब्रह्म जिसको पहिचानों॥
सुख की इच्छा लिये, ज्ञान को करके धारण।
उसी ज्ञान अभिमान, पाय बँधता इस कारण॥ ६॥

राजस गुण रागादि, कामनायें प्रगटाते।
कर्मों के फल भोग, वासना में बँध जाते॥ ७॥

तामस गुण अज्ञान, पाय उत्पन्न होय है।
जिसके द्वारा बुद्धि, मोह से अवशि खोय है॥
निद्रा और प्रमाद, महा आलस छाता है।
हे भारत ये जीव, उस विषै बँध जाता है॥ ८॥

सात्त्विक गुण सुख विषै, लगाने वाला मानों।
और रजोगुण रूप, कर्म में रुचि उपजानों॥
अथवा तामस रूप, ज्ञान को ढक देता है।
आलस और प्रमाद, मोह से हर लेता है॥ ९॥

रज तम को पुनि दबा, सतोगुण प्रकाश देता।
तामस भी इस तरह, दबा दोनों को लेता॥
सात्त्विक तामस दबा, रजोगुण जब आता है।
उनपै अधिक प्रभाव, आपना फैलाता है॥१०॥

हे अर्जुन जिस समय, देह पुनि सब इन्द्रिन में।
चेतन अथवा बोध, शक्ति होती है उनमें॥
उसी काल यों जान, सतोगुण वर्त रहा है।
अन्तः करण महान, प्रफुल्लित होय रहा है॥११॥

राजस गुण के हुए, लोभ में पड़ जाता है।
स्वार्थ बुद्धि को धार, कर्म में जुड़ जाता है॥
अथवा रहे अशान्त, चित्त जिसका थिर नाहीं।
मन भी चंचल होय, विषय भोगों के माहीं॥१२॥

तामस गुण जिस समय, देह में वास करै है।
उसी समय अज्ञान, कूप में बुद्धि परै है॥
शुभ कर्मों से भाव, जिन्हों के हट जाते हैं।
आलस और प्रमाद, मोह में पड़ जाते हैं॥१३॥

हे पारथ ये देह, सतोगुण में जाती है।
पुनि उत्तम स्वर्गादि, लोक को वह पाती है ॥१४॥
राजस गुण के विषै, देह को त्याग देत है।
वह कर्मों से बँधा, मनुष का जन्म लेत है ॥
अथवा तामसमध्य, देह त्यागन करते हैं।
कीट आदि पशु मूढ़, योनियों में परते हैं ॥१५॥

सात्विक गुण का कर्म, परम वैराग्य बताया।
जिसका फल अत्यन्त, महा निर्मल दरशाया ॥
राजस गुण का कर्म, दुःख मय फल बतलाया।
तामस का फल कर्म, महा अज्ञान कहाया ॥१६॥

सात्विक गुण के पुरुष, दिव्य लोकों में जाते।
राजस गुण के विषै, जन्म मनुषों के पाते ॥
और तामसी लोग, अधोगति पाने वाले।
आलस तथा प्रमाद, मोह पुनि निद्रा वाले ॥१७॥

हे अर्जुन जो पुरुष, समष्टि दृष्टा चेतन में।
एक भाव से ठहर, रहा साक्षी निज धुन में ॥
अथवा गुणन सिवाय, अन्य करता नहिं लखते।
गुणहिं गुणों के माँहिं, आपही आप बरतते ॥
तीन गुणों से परै, सच्चिदानन्द ब्रह्म को।
ऐसा निश्चय जान, प्राप्त होता वह मुझको ॥१८॥

शरीर की उत्पत्ति, रूप कारण को क्षय कर।
तीनों गुण को लाँघि, गया ऐसा उत्तम नर ॥
जन्म मृत्यु पुनि जरा, दुःख सब खोवे जिसको।
परमानन्द महान, प्राप्त सुख होवे उसको ॥१९॥

(अर्जुन बोला)

गुणातीत के मुझे, सुनाओ लक्षण क्या हैं ।
किस प्रकार से रहे, आचरण उसके क्या हैं ॥
हे पुरुषोत्तम मुझे, आप यह भी बतलाओ ।
गुणातीत किस तरह, होय ये भी समझाओ ॥२०॥

(श्री भगवान् बोले)

हे अर्जुन जो परम, तत्त्व को प्राप्त हुआ है ।
वो ही ज्ञानी पुरुष, गुणों से छुटा हुआ है ॥
तीनों गुण के विषै, एक रस रहने वाला ।
उनमें इच्छा द्वेष, भाव नहिं रखने वाला ॥२१॥

साक्षी होता हुआ, ठहर कर शरीर माँहीं ।
इस प्रकार का पुरुष, गुणों से विचलित नाहीं ॥
गुणहि गुणों के माँहि, बर्तते ऐसा जाने ।
वह ईश्वर के मध्य, भाव एकहि कर माने ॥२२॥

आत्म तत्त्व में ठहर, निरन्तर रहने वाला ।
सुख दुःखों में भाव, बराबर रखने वाला ॥
मिट्टी और सुवर्ण, रूप को एक समझता ।
शत्रु मित्र के लिये, परस्पर समान लखता ॥
अस्तुति निन्दा विषै, भाव सम जिन के जानें ।
हे अर्जुन वह धैर्य, युक्त विज्ञानी मानें ॥२३॥

और मान अपमान, विचारों में भी सम है ।
वैरी अरु पुनि मित्र, भाव में भी वह सम है ॥
कर्मों के कर्त्तव्य, विषै अभिमानरहित है ।
इस प्रकार का पुरुष, जगत में गुणातीत है ॥२४॥

तीनों गुण को पार, भली विधि कर जाता है।
हे भारत वह पुरुष, अवशि मुझको पाता है॥
अव्यभिचारिणि भक्ति, योग को धारण करके।
हो जाते हैं पार, दिव्य मम नाम सुमर के ॥२५॥

वो अविनाशी ब्रह्म, रूप अमृत पहिचानों।
है अखण्ड आनन्द, एक रस जिसको जानों॥
नित्य धर्म पुनि और, शाश्वत धर्म मानिये।
अथवा सुख एकान्त, सबहि मम नाम जानिये॥
इन नामों का मुझे, आश्रय समझ लीजिये।
इसीलिये हे पार्थ, मुझ विषै ध्यान दीजिये ॥२६॥

ॐ श्रीकृष्णार्जुन संवादे गुणमय
विभाग योगोनाम चतुर्दश अध्याय समाप्तम् ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

पंचादश अध्याय में, है पुरुषोत्तम योग।
प्रेमी लक्ष्मण दास को, हुआ भक्ति संयोग॥

❁ श्री भगवान बोले ❁

हे अर्जुन ये जगत, पुरातन वृक्ष बताया।
जिसकी शाखा तले, मूल ऊपर दर्शाया॥
सबका आदि सरूप, मूल परमेश्वर जानों।
पुनि ब्रह्मा के लिये, मुख्य शाखा पहिचानों॥
पीपल का यह वृक्ष, वेद पत्ते कहलाये।
मूल सहित जो जान, उसे ज्ञानी बतलाये॥ १ ॥

त्रिगुण रूप जल पाय, वृक्ष यह हरा हुआ है।
नाना सुख दुःखादि, फलों से भरा हुआ है॥
देव मनुज पुनि तिर्यक, आदि योनी बतलाईं।
सब लोकों के मध्य, यही शाखायें छाईं॥

मनुष योनियों विषै, अहंता ममता कारण ।
बँधते हैं वे जीव, करैं जो इसको धारण ॥
और वासना रूप, जड़ैं जानो तुम जिसमें ।
फैली हुईं तमाम, तले ऊपर वे सब में ॥ २ ॥

जैसा मैंने तुम्हें, वृक्ष का रूप बताया ।
परन्तु वैसा रूप, देखने में नहिं आया ॥
आशा ममता रूप, वासना का ये ढाँचा ।
खड़ा हुआ इस तरह, नहीं झूँठा नहिं साँचा ॥
आदि अन्त पुनि मध्य, मिलै मुश्किल से इसको ।
काटै दृढ़ वैराग्य, शस्त्र के द्वारा जिसको ॥ ३ ॥

पुनि इसके उपरान्त, परम पद परमेश्वर को ।
जानें भली प्रकार, खोजना करके जिसको ॥
जिसे जान कर मनुष, उसी में जाय समाते ।
होकर उसको प्राप्त, यहाँ पीछा नहिं आते ॥
जिस ईश्वर के परम, पुरातन जगत वृक्ष को ।
फैलाया विस्तार, बड़ा ही भारी उस को ॥
ऐसे आदि महान, पुरुष की शरणें पड़ता ।
मैं हूँ तेरी शरण, इस तरह करके दृढता ॥ ४ ॥

नष्ट कर दिये मान, मोह पुनि सबही जिसने ।
जीत लिया आसक्ति, रूप दोषों को उसने ॥
परमेश्वर में ठहर, निरन्तर मगन होयकर ।
पावे अति आनन्द, कामना सबहि खोय कर ॥
और सकल सुख दुःख, द्वन्द को मिटा दिया है ।
उसने ही अव्यक्त, परमपद प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

स्वयम् प्रकाशक दिव्य, परम पद को सूरज भी ।
नहिं कर सकें प्रकाश, चन्द्रमा और अग्नि भी ॥
उस पद को हो प्राप्त, पुरुष पीछा नहिं आता ।
ऐसा उत्तम परम, धाम मेरा कहलाता ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ये जीव, अंश मेरा ही जानों ।
रहे देह के विषै, सनातन इसको मानों ॥
दूजी मेरी त्रिगुण, रूप माया बतलाई ।
जिससे ये जीवात्म, हमेशा रहे भुलाई ॥
वो ही मन के सहित, पकड़ पाँचों इन्द्रिन को ।
जबरन अपनी ओर, खींचता है पुनि उनको ॥ ७ ॥

जिस प्रकार से पवन, गंध को उठा जगह से ।
अन्य ठौर ले जाय, उड़ाकर अपने बल से ॥
वैसे ही ये जीव, खींचकर मन इन्द्रिन को ।
ले जाता है साथ, छोड़ता नहिं है उनको ॥
पूर्व देह को त्याग, वासना संगइ लाता ।
उसके ही अनुकूल, दूसरा शरीर पाता ॥ ८ ॥

उसी देह में जीव, आत्मा प्रसन्न रहकर ।
जो भी कुछ कर्त्तव्य, करै इन्द्रिन से मिलकर ॥
श्रवण नेत्र पुनि त्वचा, घ्राण अरु रसना मनको ।
इन छैओं के साथ, भोगता है विषियन को ॥
हे अर्जुन ये जीव, देह में रहे हुए को ।
और देह से जीव, निकलकर गये हुए को ॥
पुनि विषयों के लिये, भोगते हुए जीव को ।
तीनों गुण में लिप्त, परस्पर हुए जीव को ॥

हे भारत वे मूढ़, आपको नहिं पहिचानैं ।
ज्ञानी जन ही ज्ञान, नेत्र के द्वारा जानें ॥१०॥

योगी जन ही हृदय, ठहरकर आत्म तत्त्व को ।
जानै भली प्रकार, यत्न द्वारा ही जिसको ॥
जिनका अन्तःकरण, शुद्ध नहिं हुआ मानते ।
वे अज्ञानी यत्न, किये भी नहीं जानते ॥११॥

हे अर्जुन जो तेज, प्रभाकर में पुनि भाषै ।
वो ही इस सम्पूर्ण, जगत के लिये प्रकाशै ॥
और चन्द्र पुनि अग्नि, मध्य जो तेज समाया ।
हे पारथ वह तेज, सबहि मेरा बतलाया ॥१२॥

मैं हीं पृथ्वी मांहि, लीन होकर प्राणिन को ।
अपने बल के साथ, करूं हूँ धारण उनको ॥
पुनि अमृत मय हुआ, चन्द्र को रूप धरूँ हूँ ।
किरणों से रस फैंक, वनस्पति पुष्ट करूँ हूँ ॥१३॥

सब देहों के विषै, ठहरकर जठर अग्नि हो ।
अथवा प्राण अपान, पवन दोनों हीं सम हो ॥
चार तरह का अन्न, पचाने वाला मुझको ।
समझ उन्हों के नाम, जिन्हें बतलाऊँ तुझको ॥
भक्त भोज्य पुनि लेह, और प्रिय चोष्य कहाया ।
हे अर्जुन ये चार, तरह का अन्न बताया ॥१४॥

सब के अन्दर हृदय, ठहरने वाला मैं हूँ ।
स्मृति ज्ञान के लिये, कराने वाला मैं हूँ ॥
मैं ही वेदों माँहि, जानने योग्य कहाऊँ ।
पुनि करता वेदान्त, शास्त्र का भी कहलाऊँ ॥

वेदों के भी लिये, जानने वाला मैं हूँ।
मुझ सिवाय नहिं और, सबहि कुछ मैं ही मैं हूँ ॥१५॥
दो प्रकार के पुरुष, जगत में समझे जाते।
अनित्य अरु पुनि नित्य, रूप दोनों बतलाते ॥
जीव आत्मा नित्य, परम अविनाशी जानो।
देह अनित्य महान, जिसे क्षण भंगुर मानो ॥१६॥
इन दोनों से श्रेष्ठ, पुरुष औरहि बतलाया।
जिसका परम प्रभाव, लोक तीनों में छाया ॥
धारण पोषण करे, सबहि का है हितकारी।
परमेश्वर पर ब्रह्म, नाम जिसका उच्चारी ॥१७॥
नाशवान जड़वर्ग, देह से वो अतीत है।
उसमें जो चैतन्य, जीव से भी उत्तम है ॥
इसीलिये मैं लोक, वेद में श्रेष्ठ बताया।
पुरुषोत्तम मम नाम, मनोहर प्रसिद्ध पाया ॥१८॥
हे भारत इस तरह, तत्त्व से जो विज्ञानी।
पुरुषोत्तम मम नाम, जानता है वह प्राणी ॥
इस प्रकार का पुरुष, बड़ा प्यारा लगता है।
मुझ ईश्वर के लिये, निरन्तर जो भजता है ॥१६॥
ऐसा अति प्रिय गोप्य, शास्त्र मैंने पुनि इसको।
बड़े रहस्य के साथ, तुम्हें समझाया जिसको ॥
जिसे तत्व से जान, मनुष ज्ञानी बन जाते।
होकर परम कृतार्थ, रूप अपना लख पाते ॥
उन पुरुषों के लिये, शेष कुछ नहिं रहता है।
करने को कर्त्तव्य, शास्त्र ऐसा कहता है ॥२०॥

ॐ श्रीकृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तम योगोनाम पञ्चदशो अध्याय समाप्तम्

सोलहवाँ अध्याय

सोडशवें अध्याय में, देवासुरी विभाग।
प्रेमी लछमण दास कह, सदा कुसंगति त्याग॥

[श्री भगवान बोले]

हे अर्जुन इस जगत, मध्य मत भेद दिखाते।
दैवि आसुरी रूप, सम्प्रदा दो बतलाते॥
प्रथम सम्पदा परम, मनोहर दैवी मानों।
जिसमें भय का त्याग, सर्वथा पहले जानों॥
दूजे अन्तःकरण, शुद्ध होता है जिनको।
तत्त्व ज्ञान में चित्त, निरन्तर थिर है उनको॥
यज्ञ और दानादि, आचरण करने वाले।
इन्द्रिन के भी लिये, आप वश रखने वाले॥
पुनि शास्त्रों का नित्य, पठन पाठन भी करते।
भगवत का भी नाम, प्रेम के साथ सुमरते॥
स्वधर्म पालन रूप, कष्ट को भी सहते हैं।
निर्मल सरल सुभाव, विषै हरदम रहते हैं॥ १॥

मन वाणी पुनि देह, साथ भी किसी जीव को।
सुपने में भी कष्ट, नहीं पहुंचाते जिसको॥
भाषण भी प्रिय सत्य, मधुरता का करते हैं।
किसी तरह की आँट, हृदय में नहिं रखते हैं॥
जो अपना अपकार, करैं उससे भी वे नर।
रहते परम प्रसन्न, क्रोध नहिं करते उसपर॥
कर्त्तापन का कर्म, विषै अभिमान त्यागते।
अथवा अन्तःकरण, मलिनता नहीं राखते॥

निन्दा भी वे पुरुष, किसी की नहीं चाहते ।
सब प्राणिन के साथ, एकसा प्रेम निभाते ॥
पुनि विषियों को पाय, मोह में नहिं परते हैं ।
अथवा लोक विरुद्ध, कर्म भी नहिं करते हैं ॥ २ ॥

धैर्य क्षमा पुनि तेज, युक्त बतलाया उनको ।
भीतर बाहर शुद्ध, रूप भी पाया जिनको ॥
और किसी से शत्रु, भाव भी नहिं उपजाते ।
अपनी पूजा विषै, अहमता भी नहिं लाते ॥
ये सब लक्षण दैवि, सम्प्रदा के तुम जानो ।
अब आगे आसुरी, सम्प्रदा को पहिचानो ॥ ३ ॥

घमण्ड पुनि पाखण्ड, और अभिमान जिन्होंके ।
भरा हुआ है प्रवल, हृदय अज्ञान उन्होंके ॥
कठोर वाणी युक्त, दुःख पहुँचाते सबको ।
हरदम क्रोधित रूप, बना रहता है उनको ॥ ४ ॥

इन दोनों में श्रेष्ठ, सम्प्रदा दैवी मानों ।
जिसको भली प्रकार, मोक्ष की दाता जानों ॥
पुनि दूजी आसुरी, सम्प्रदा बन्धन कारण ।
असुर भाव के पुरुष, करैं हैं जिसको धारण ॥
हे अर्जुन इस विषै, शोक तू बिल्कुल मत कर ।
दैवि सम्प्रदा प्राप्त, हुआ तूतो निश्चय कर ॥ ५ ॥

हे भारत इस मनुष, लोक में दो प्रकार के ।
माने गये स्वभाव, देवता पुनि असुरन के ॥
उनमें देव स्वभाव, तुम्हें सब वर्णन कीन्हों ।
अब आगे विस्तार, सहित असुरों के चीन्हों ॥ ६ ॥

असुर भाव के पुरुष, श्रेष्ठ कर्मों के तांही।
करने को स्वीकार, उन्हों पर जमते नांही।
और अशुभ कर्त्तव्य, किये पर भी नहिं डरते।
उससे भी वे यत्न, छूटने का नहिं करते॥
बाहर भीतर शुद्धि, जिन्हों के तनिक नहीं है।
कोई भी कर्त्तव्य, उन्हों के श्रेष्ठ नहीं है॥
हे भारत वे पुरुष, सत्य भाषण क्या जानैं।
मन गढन्त जो बात, उसे ही साँची मानैं॥ ७॥

इन भावों को लिये, हुए ही असुर कहाते।
जगत आश्रय रहित, जिसे झूँठा बतलाते॥
बिन ईश्वर उत्पन्न, आप ही आप हुआ है।
अथवा स्त्री पुरुष, संग से प्राप्त हुआ है॥
केवल इसमें भोग, भोगना ही सुन्दर है।
इसके और सिवाय, कहा जिसके अन्दर है॥ ८॥

ऐसा मिथ्या ज्ञान, मन मुखी धारण करके।
जिनका नष्ट स्वभाव, हुआ विषयों में परके॥
मन्द बुद्धि होगई, क्रूर कर्मों से जिनकी।
पर अकाज के लिये, बुद्धि है तत्पर उनकी॥
केवल ऐसे पुरुष, जगत के नाश करन को।
होते हैं उत्पन्न, सिर्फ याही कारन को॥ ९॥

दम्भमान मद युक्त, हुए वे नहीं समझते।
जो पूरी नहिं होय, कामनाओं में लगते॥
पुनि मिथ्या सिद्धान्त, अनेकों ग्रहण करैं वे।
भ्रष्ट आचरण युक्त, हुए जग में विचरैं वे॥१०॥

पुनि मरने पर्यन्त, रहें उन चिन्ताओं को।
जिनका आश्रय लिये, हुए भोगें विषियों को॥
इस प्रकार के भोग, भोगने में वे तत्पर।
बस इतना आनन्द, मानते हैं निश्चयकर॥११॥

आशा ममता रूप, सैंकड़ों फांसिन माहीं।
जकड़े हुए महान, छूटते उनसे नाहीं॥
काम क्रोध के रण, हुए विषयों के सुख को।
पुनि मिलने के लिये, करैं हैं उपाय उसको॥
अनेक छल पाखंड, रूप से धन को हरते।
जैसे भी हो पूर्ति, चेष्टा वो ही करते॥१२॥

उनके निजी विचार, हृदय में ये रहते हैं।
आज प्राप्त ये हुआ, इस तरह से कहते हैं॥
कुछ तो मेरे काम, सिद्ध होगये हैं अबही।
कुछ आगे हो जायं, रहे जो सबके सबही॥
इतना तो धन पास, अगारी और होयगा।
इसमें संशय नहीं, होयगा अवशि होयगा॥१३॥

मेरे द्वारा शत्रु, बहुत से मारे गये हैं।
वे भी मारे जायं, शेष जो कुछ रह गये हैं॥
ऐश्वर्यों का परम, भोगता ईश्वर मैं हूँ।
सर्व सिद्धियों युक्त, सुखी बल वाला मैं हूँ॥१४॥

मो समान धनवान, बड़ा ही कुटुम्ब वाला।
नहीं दूसरा और, जगत में वैभव वाला॥
अथवा अब मैं यज्ञ, बहुत से करना चाहूँ।
दानी वीर महान, दान का बनना चाहूँ॥

इस प्रकार का कथन, परस्पर करते प्राणी ।
मानै हर्ष अपार, मोह में पड़ अज्ञानी ॥१५॥

इन बातों से चित्त, जिन्हों के भ्रमित हुए हैं ।
मोह रूप जो जाल, उसी में फँसे हुए हैं ॥
भोगों में आसक्ति, हुए वे नहिं छुट पाते ।
उनको महा मलीन, नरक में पटके जाते ॥१६॥

वे अपने को आप, श्रेष्ठ बतलाने वाले ।
जो घमण्ड उन्माद, हुए धन के मतवाले ॥
हे अर्जुन वे शास्त्र, रीति से विमुख सदाहीं ।
करें नाम के लिये, यज्ञ दुनियाँ के माहीं ॥१७॥

अहङ्कार बल क्रोध, कामना घमण्ड के बस ।
करते हैं वे पुरुष, पराई निन्दा हँस हँस ॥
अपने अथवा और, दूसरे शरीर माँही ।
मुझको ठहरा हुआ, आप में जानत नाँही ॥
वे निर्दयी महान, द्वेष मुझसे ही करते ।
अन्तर्यामी रूप, समझकर भी नहिं डरते ॥१८॥

उन द्वेषी पापात्म, क्रूरकर्मी अधमन को ।
देता बारम्बार, आसुरी योनी जिनको ॥
सूकर कूकर आदि, नीच योनी में जाकर ।
भोगै दुःख अपार, जन्म ऐसा वे पाकर ॥१९॥

हे भारत वे मूढ़, प्राप्त मुझको नहिं होते ।
उन्हीं योनियों विषै, समय अपना वे खोते ॥
इससे भी पुनि अधिक, नीच गति को वे पाते ।
महा भयानक घोर, नरक में गेरे जाते ॥२०॥

काम क्रोध पुनि लोभ, नरक के द्वार कहाये ।
यही जीव के लिये, दुःख के हेतु बताये ।।
समझ अधोगति विषै, डालने वाले इनको ।
इसीलिये हे पार्थ, त्याग निश्चयकर जिनको।।२१।।

अथवा जो इन तीन, द्वार से मुक्त भये हैं ।
काम क्रोध लोभादि, फंद से छूट गये हैं ।।
जिनने अपना शुद्ध, आचरण धार लिया है ।
निश्चय मेरे लिये, उन्होंने प्राप्त किया है ।।२२।।

हे भारत जो पुरुष, शास्त्र पर चलते नाहीं ।
निज इच्छा अनुसार, वर्तते हैं जग माँहीं ।।
उन पुरुषों के लिये, परम गति प्राप्त नहीं है ।
अथवा सुख भी नहीं, सिद्धि भी प्राप्त नहीं है ।।२३।।

कार्य अकार्य विषैं, शास्त्र ही प्रमाण जानों ।
जो इससे विपरीत, उसे मत प्रमाण मानों ।।
इस कारण से शास्त्र, नियत कर्मों के ताहीं ।
है करने के लिये, योग्य तू उन्हें सदाहीं ।।२४।।

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्रीकृष्णार्जुन संवादे
देवासुर सम्प्रदा योगो नाम षोडशो अध्याय समाप्तम्

* सत्रहवाँ अध्याय *

सप्तादश अध्याय में, श्रद्धा योग निहार ।
प्रेमी लच्मण दास को, तत्सत ओम अधार ।

(अर्जुन बोला)

हे भगवन जो पुरुष, शास्त्र के त्याग वचन को ।
पुनि श्रद्धा से युक्त, हुआ पूजे देवन को ।।

क्या है उसकी गती, कौनसी, कैसे, जानूँ ।
सात्विक राजस रूप, और या तामस मानूँ ॥ १ ॥

(श्री भगवान् बोले)

हे अर्जुन जो पुरुष, शास्त्र के बिना विचारे ।
निज स्वभाव से प्रगट, हुई श्रद्धा को धारे ॥
उस श्रद्धा के लिये, त्रिगुणमयी जान लीजिये ।
जिस पर अच्छी तरह, समझकर ध्यान दीजिये ॥ २ ॥
वह श्रद्धा उत्पन्न, सभी के हृदय मानिये ।
परन्तु अन्तःकरण, समान हि प्रगट जानिये ॥
जैसी श्रद्धा होय, स्वयम् वैसा ही उसको ।
पुनि स्वरूप बन जाय, उसी के समान जिसको ॥ ३ ॥
सात्त्विक गुण के पुरुष, रटन देवन का करते ।
तथा राजसी पुरुष, यक्ष राक्षसन सुमरते ॥
और तामसी जीव, भजैं हैं भूत गणों को ।
लगा हुआ दिन रात, उन्हीं से प्रेम जिन्हों को ॥ ४ ॥
वे ही शास्त्र विरुद्ध, घोर तप को तपते हैं ।
अहङ्कार से युक्त, कामनायें रखते हैं ॥
बल घमण्ड अभिमान, दम्भ में पगे हुए हैं ।
मन से कल्पित किये, तप विषै लगे हुए हैं ॥ ५ ॥
आकाशादि महान, पञ्च भूतों को मुझमें ।
अरु पुनि अन्तःकरण, देह पुनि मन इन्द्रिन में ॥
मेरा ही प्रिय रूप, समाया सबके माँही ।
उनमें रहते हुए, समझते फिर भी नाँही ॥
मुझको ही वे कष्ट, देह में देने वाले ।
उनको ही तू समझ, आसुरी स्वभाव वाले ॥ ६ ॥

जैसी श्रद्धा तीन, भाँति की तुम्हें सुनाई ।
सात्त्विक राजस और, तमोगुण में दर्शाई ॥
अब आगे तप यज्ञ, दान भोजन भी लख तू ।
जिनके मुझसे अलग, अलग कर भेद समझ तू ॥ ७ ॥

सबसे पहले परम, सात्त्विकी भोजन जानो ।
कोमल चिकने मधुर, भरे रस के पहिचानो ॥
और आयु बल बुद्धि, प्रीति उपजाने वाले ।
सदा सुखी आरोग्य, देह को रखने वाले ॥ ८ ॥

कड़वे खट्टे लवण, युक्त अति गर्म बताये ।
तीक्ष्ण दाहक दुःख, रूप रूखे कहलाये ॥
पुनि रोगों के लिये, बढ़ाने वाला इसको ।
समझ शास्त्र के मध्य, राजसी भोजन जिसको ॥ ९ ॥

जो भोजन अधपका, तथा दुर्गंध युक्त हो ।
अथवा रस से रहित, और वासी उचिष्ठ हो ॥
ऐसा अन्न अशुद्ध, शास्त्र जिसको बतलावैं ।
यही पुरुष के लिये, तमोगुण को उपजावैं ॥१०॥

हे अर्जुन जो यज्ञ, शास्त्र से नियत किया है ।
करना है कर्त्तव्य, इस तरह समझ लिया है ॥
मन को निश्चल किया, फलों को नहीं चहावे ।
ऐसा उत्तम परम, सात्त्विकी यज्ञ कहावे ॥११॥

केवल जिसमें दम्भ, आचरण दरशाता है ।
जग में होगा नाम, भाव ये उपजाता है ॥
फल का भी उत्साह, हृदय उनके रहता है ।
है ये राजस यज्ञ, शास्त्र ऐसा कहता है ॥१२॥

विधि विधान से हीन, यज्ञ को समझ अपावन ।
दछिना अथवा भेंट, मंत्र का भी नहिं साधन ॥
ऐसा श्रद्धा रहित, यज्ञ तामस कहलाता ।
जिसका फल विपरीत, वेद में पाया जाता ॥१३॥

देव विप्र गुरु पूज्य, महात्मा ज्ञानी जनको ।
करते भली प्रकार, प्रेम से पूजन उनको ॥
ब्रह्मचर्य में ठहर, सरलता को धारणकर ।
पुनि पवित्र भी होय, अहिंसा को पालन कर ॥
ये तप महा पवित्र, देह का मान लीजिये ।
जिसका फल अत्यन्त, सुखमयी जान लीजिये ॥१४॥

हे भारत उद्वेग, रूप का भाषण नहिं हो ।
हित कारक पुनि मधुर, सत्यता का भाषण हो ॥
हैं शास्त्रों के लिये, नियम से पढ़ने वाला ।
भगवत के भी नाम, गुणों का जपने वाला ॥
वाणी में ये परम, श्रेष्ठ तप समझा जाता ।
जिसके द्वारा मनुष, ज्ञान को निश्चय पाता ॥१५॥

जिनके अन्तःकारण, शुद्धता छाजाती है ।
मन को बस में किया, शान्तता आजाती है ॥
होकर चित्त प्रसन्न, तबहि भगवत में लगता ।
ये तप मन का समझ, इसी से बन्धन कटता ॥१६॥

जो फल को नहिं चहै, वही योगी के द्वारा ।
श्रद्धा से जो किया, हुआ तप सत्य उचारा ॥
मैंने ऊपर तीन, तरह के तप बतलाये ।
वे तीनों तप परम, सतोगुण में दरशाये ॥१७॥

जिस तप में सत्कार, मान पूजा को चावै ।
वो केवल पाखंड, रूप ही समझा जावै ॥
फल भी जिसका क्षणिक, मात्र ही जाना जाता ।
यों इस तप के लिये, राजसी माना जाता ॥१८॥

जो हठता के साथ, मूढ़ तप करने वाला ।
वह औरों के लिये, दुःख पहुँचाने वाला ॥
निज वाणी मन देह, विषै भी दुख प्रगटाता ।
ये तप तामस महा, भयानक समझा जाता ॥१९॥

जिसने निज कर्त्तव्य, समझकर दान दिया है ।
देश काल पुनि पात्र, रूप को जान लिया है ॥
उससे प्रति उपकार, निजी कुछ नहीं चहाता ।
ऐसा निर्मल परम, सात्विकी दान कहाता ॥२०॥

जो देता है दान, क्लेश को करके तनमें ।
अथवा कोई निजी, प्रयोजन रख कर मनमें ॥
या बदले में काम, दूसरा लेना चावै ।
ऐसा स्वारथ बद्ध, दान राजस कहलावै ॥२१॥

तिरस्कार के साथ, दान का करने वाला ।
और अयोग्य कुपात्र, जानों को देने वाला ॥
जो अभक्ष मद माँस, आदि के खाने वाले ।
चोरी जारी नीच, कर्म को करने वाले ॥
उन पुरुषों को दिया, दान तामस बतलाया ।
जिसका फल अत्यन्त, अशुभ लखने में आया ॥२२॥

ॐ तत्सत् महान्, ब्रह्म के तीन नाम हैं ।
सत् चिद् घन आनन्द, यही निज परम धाम हैं ॥

उसी ब्रह्म से आदि, काल में प्रगट भये हैं ।
ब्राह्मण अरु पुनि वेद, यज्ञ भी रचे गये हैं ।।२३।।

इसीलिये यह वेद, श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा ।
विधि विधान के साथ, उन्हों से जाय उचारा ।।
यज्ञ दान तप रूप, क्रिया प्रारम्भ समय में ।
होता है उच्चार्ण, ॐ का पहले उनमें ।।२४।।

अब तत् का सुन अर्थ, सबहि कुछ है ईश्वर को ।
ऐसा मन में भाव, रखै चावै नहिं फल को ।।
यज्ञ दान तप रूप, क्रियाएँ बारम्बारा ।
करने से कल्याण, होय उनहीं के द्वारा ।।२५।।

सत् ईश्वर का नाम, सत्य भावों में जिसका ।
होता सत्य प्रयोग, श्रेष्ठ बातों में उसका ।।
अथवा उत्तम कर्म, विषै भी प्रयोग सतका ।
होता भली प्रकार, परस्पर निर्णय जिसका ।।२६।।

तथा यज्ञ तप दान, रूप में थिर रहते हैं ।
उनको भी पुनि शास्त्र, मध्य सत् ही कहते हैं ।।
जितने भी शुभ कर्म, अर्थ ईश्वर के पाये ।
वे तो सबके सबहि, दिव्य सत् कर्म कहाये ।।२७।।

जो श्रद्धा से रहित, यज्ञ दानादिक तप को ।
करता है वह पुरुष, समझ तू असत्य उसको ।।
इस कारण वह कर्म, लाभ दायक नहिं होता ।
लोक और परलोक, हाथ से दोनों खोता ।।
इसीलिये हे पार्थ, निरन्तर परम ध्यान में ।
रखिये मन के लिये, सच्चिदानन्द ज्ञान में ।।

नित्य कर्म निष्काम, भाव के ही द्वारा तू।
निश्चय ही कल्याण, समझ इसमें तेरा तू ॥२८॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्री कृष्णार्जुन सम्वादे
श्रद्धा त्रय विभाग योगोनाम सप्त दशो अध्याय समाप्तम् ।

अठारहवाँ अध्याय

अष्टादस अध्याय में, मोक्ष योग सन्यास ।
चरण कमल रत विरतिभव, प्रेमी लक्ष्मण दास ॥

❀ अर्जुन बोला ❀

हे भगवन् सन्यास, योग प्रिय त्याग तत्व को ।
अलग अलग कर भेद, कहो समझाकर मुझको ॥१॥

❀ श्री भगवान् बोले ❀

हे अर्जुन सन्यास, योग अरु त्याग तत्व के ।
मुझसे अच्छी तरह, समझ निर्णय दोऊन के ॥
कितने ही तो काम्य, कर्म को त्याग बतावें ।
उसको ही सन्यास, योग कहकर समझावें ॥
पुनि दूजे विद्वान, सभी कर्मों के फलको ।
बतलाते हैं त्याग, कहें वे त्याग उसी को ॥ २ ॥
और बहुत से लोग, सभी कर्मों को दोषित ।
अवशि त्यागने योग्य, इस तरह करते घोषित ॥
कई एक विद्वान, यज्ञ तप दान कर्म को ।
नहीं त्यागने योग्य, परस्पर कहते जिसको ॥ ३ ॥
हे अर्जुन इस विषै, समझ मेरे निश्चय को ।
त्रिगुणमयी जो त्याग, उसे बतलाऊँ तुमको ॥ ४ ॥
यज्ञ दान तप कर्म, त्यागने योग्य नहीं हैं ।
इन सम महा पवित्र, अन्य कुछ और नहीं हैं ॥

ये तीनों ही यज्ञ, दान तप परम सुहावन।
ज्ञानी के भी लिये, कर्म ये करते पावन ॥ ५ ॥

यज्ञ दान तप रूप, और भी शुभ कर्मों को।
करते भली प्रकार, उन्हों के त्याग फलों को ॥
ऐसा निश्चय किया, हुआ मेरे इस मत को।
समझो अच्छी तरह, ध्यान के द्वारा जिसको ॥ ६ ॥

नियत कर्म का त्याग, कभी नहिं करना चहिये।
होय मोह से त्याग, उसे ही तामस कहिये ॥ ७ ॥

यदि कोई जो मनुष, सबहि कर्मों के ताँही।
दुःख रूप पुनि समझ, उन्हें अपने मन माँही ॥
जो शारीरिक कष्ट, और पुनि भय के द्वारा।
करै कर्म का त्याग, उसे राजस उच्चारा ॥
हे पारथ इस तरह, कर्म से डरने वाला।
करे व्यर्थ ही त्याग, फलहु नहिं मिलने वाला ॥ ८ ॥

अथवा प्रिय कर्त्तव्य, समझ कर कर्म करै है।
परन्तु फल की हृदय, वासना नहीं धरै है ॥
स्वरूप से पुनि त्याग, कर्म का करता नहिं है।
उनमें वह आसक्ति, भाव को रखता नहिं है ॥
शास्त्र नियत जो कर्म, इस तरह कर्त्ता जिसको।
वही सात्त्विकी त्याग, परस्पर माना उसको ॥ ९ ॥

ऐसा जन कल्यान, कर्म से बँधे नहीं है।
जिसमें नहिं कल्यान, उस विषै द्वेष नहीं है ॥
शुद्ध सतोगुण युक्त, हुआ संशय नहिं लावै।
ऐसा ज्ञानी पुरुष, महा त्यागी कहलावै ॥१०॥

हे अर्जुन सब कर्म, देह धारी के द्वारा।
नहिं हो सकता त्याग, वचन सच मान हमारा॥
पुनि फल का ही त्याग, समझकर निश्चय कीन्हों।
वो ही ज्ञानी पुरुष, उसी को त्यागी चीन्हों॥११॥

स-कामियों के कर्म, अगारी बीज जमाते।
अच्छा हो या बुरा, उस विषै फल प्रगटाते॥
मिला हुआ वह तीन, भाँति का फल कहलाता।
पुनि मरने के बाद, अवशही भोगा जाता॥
ज्ञानी जन के कर्म, बीज को नहिं उपजावें।
जिनके द्वारा किये, कर्म भी नहिं कहलावें॥१२॥

हे! अर्जुन सम्पूर्ण, कर्म के सिद्ध काल में।
माने गये हैं पाँच, हेतु पुनि सांख्य शास्त्र में॥
उन हेतुन के लिये, भली विधि मुझ से सुन तू।
जिसको अच्छी तरह, समझ कर निश्चय गुन तू॥१३॥

प्रथम हेतु आधार, दूसरा कर्त्ता मानों।
अरु पुनि करण महान, चतुर्थी चेष्टा जानों॥
तथा पाँचवा हेतु, देव के लिये बताते।
कर्म सिद्धियों विषै, सहायक यही कहाते॥१४॥

मन वाणी पुनि देह, साथ जो भी कुछ इनसे।
रीति और विपरीत, कर्म होते सब जिनसे॥
उन कर्मों के विषै, पाँच ये कारण पाये।
जिनके मैंने तुम्हें, नाम ऊपर बतलाये॥१५॥

परन्तु अशुद्ध बुद्धि, पुरुष जाने नहिं उसको।
केवल शुद्ध स्वरूप, लखें कर्त्ता आतम को॥

ऐसा बुद्धि मलीन, यथा विधि नहीं लखै है ।
हे अर्जुन वह मूढ़, कछू से कछू बकै है ॥१६॥

कर्त्तापन का भाव, जिन्हों के हृदय नहीं है ।
किसी कर्म के विषै, बुद्धि भी लिप्त नहीं है ॥
इस प्रकार का पुरुष, सभी लोगों को मारै ।
परन्तु ऐसा नहीं, किसी को भी नहिं मारै ॥
ऐसा करता हुआ, पाप से नहीं बँधाता ।
और पुण्य को देख, चित्त को नहीं लुभाता ॥१७॥

अरु पुनि ज्ञाता ज्ञान, तथा ज्ञेय को पहिचाने ।
ये तो तीनों अवशि, कर्म के प्रेरक माने ॥
इन तीनों से कर्म, विषै इच्छा प्रगटै है ।
ऐसा कर्त्ता कर्म, क्रिया से कर्म बनै है ॥१८॥

उन सब में प्रिय ज्ञान, कर्म कर्त्ता को लख अब ।
अलग अलग जो भेद, गुणों से प्रकट भये सब ॥
इन तीनों का रूप, साँख्य ने वर्णन कीन्हों ।
उन रूपों के लिये, ध्यान दे मुझ से चीन्हों ॥१६॥

सब भूतों में एक, ब्रह्म अविनाशी जानें ।
पुनि विभाग से रहित, सर्व व्यापक पहिचानें ॥
सब में ठहरा हुआ, भाव सम रखने वाला ।
यही सात्विकी ज्ञान, एक रस रहने वाला ॥२०॥

जिसके द्वारा पुरुष, सबहि भूतों के माँही ।
भिन्न भिन्न कर लखै, आत्माओं के ताँही ॥
न्यारा न्यारा भाव, जिन्हों के उपजाता है ।
इस प्रकार का ज्ञान, राजसी कहलाता है ॥२१॥

निज शरीर के विषै, सबहि कुछ जान रहा है ।
अपना जो प्रिय आत्म, उसी को मान रहा है ॥
ऐसा जो विपरीत, ज्ञान में भूल रहा है ।
क्षण भंगुर यह देह, इसी में डूब रहा है ॥
तत्व अर्थ से रहित, मोह में सोय रहा है ।
ईश्वर से वह पुरुष, अलग पुनि होय रहा है ॥
अपने आपहि माँहि, आप आसक्त भया है ।
ऐसा उलटा ज्ञान, तामसी कहा गया है ॥२२॥

हे अर्जुन जो पुरुष, शास्त्र के नियत कर्म को ।
करता है अभिमान, रहित होकर के जिसको ॥
राग द्वेष बिन कर्म, करे फल भी नहिं चावै ।
ऐसा उत्तम कर्म, सात्त्विकी समझा जावै ॥२३॥

जिसमें हो अति कष्ट, और फल को भी चावै ।
अहङ्कार से युक्त, राजसी कर्म कहावै ॥२४॥

हो जिसका परिणाम, हानि पुनि हिंसा कारी ।
सामर्थी नहिं समझ, कर्म करता है भारी ॥
केवल वह अज्ञान, दम्भ से कर्म करै है ।
ऐसा तामस कर्म, शास्त्र में जान परै है ॥२५॥

अब कर्त्ता को लखो, प्रथम आसक्ति रहित हो ।
अहंकार का वचन, बोलने वाला नहिं हो ॥
धीरज धारण करे, और उत्साह युक्त हो ।
सिद्धि असिद्धि विषै, हर्ष शोकादिक नहिं हो ॥
ऐसे सबहि विकार, जिन्हों के नष्ट भये हैं ।
वे ही कर्त्ता परम, सात्त्विकी कहे गये हैं ॥२६॥

हो फल से आसक्त, लोभ में फँसने वाला ।
औरों के भी लिये, दुःख पहुँचाने वाला ॥
हर्ष शोक में लिप्त, मलिन आचरण मानिये ।
उसको कर्त्ता महा, राजसी रूप जानिये ॥२७॥

पड़ा हुआ विक्षेप, चित्त में जिसके भारी ।
शिक्षा से भी रहित, घमण्डी धूर्त निहारी ॥
औरों की वह पुरुष, जीविका का नाशक है ।
दीर्घ सूत्री हुआ, भरा जिसके आलस है ॥२८॥

ऐसा करता महा, तामसी रूप कहाया ।
जिसको अच्छी तरह, शास्त्रकारों ने गाया ॥
बुद्धि और धृति रूप, भेद भी श्रवण कीजिये ।
किन्तु गुणों के हेतु,त्रिगुणमय समझ लीजिये॥२६॥

प्रवृति निवृति का रूप, कार्य पुनि अकार्यताको ।
अथवा भय अरु अभय,और पुनि बन्ध मोक्षको ॥
हे अर्जुन जो बुद्धि, तत्व से जाने इसको ।
वही अचल प्रिय बुद्धि, सात्त्विकी कहते जिसको ॥३०॥

धर्म अथवा अधर्म, कार्य पुनि अकार्यता को ।
नहीं जानती बुद्धि, यथा विधि राजसता को ॥३१॥
हे अर्जुन जो बुद्धि, तमोगुण से ढकरहि है ।
अधर्म को वह धर्म, रूप निश्चय कर रहि है ॥
तथा और सम्पूर्ण, अर्थ विपरीतहि मानी ।
इस प्रकार की बुद्धि, तामसी निश्चय जानी ॥३२॥

अव्यभिचारिण अचल, धारणा जिनने कीनी ।
मन इन्द्रिय पुनि प्राण, क्रियाऐं बसकर लीनी ॥

ध्यान योग के साथ, धारणा दृढ़ है जिनकी ।
वही धारणा परम, सात्त्विकी मानी उनकी ॥३३॥

हे भारत जो पुरुष, फलों की इच्छा वाला ।
उनमें हो आसक्त, धारणा रखने वाला ॥
धर्म अर्थ के लिये, धारणा को जो धारत ।
वही धारणा अवशि, राजसी रूप कहावत ॥३४॥

दुष्ट बुद्धि जो पुरुष, धारणा ऐसी रखता ।
चिन्ता निद्रा दुःख, और भय को नहिं तजता ॥
हुआ चित्त उन्मत्त, बुद्धि भी मन्द भई है ।
यही धारणा मलिन, तामसी कही गई है ॥३५॥

हे अर्जुन अब तीन, तरह का सुख बतलाऊँ ।
उसको भली प्रकार, नियम द्वारा समझाऊँ ॥
जिसमें साधक पुरुष, भजन सेवा के अन्दर ।
करता है अभ्यास, रमण पुनि जिसमें सुन्दर ॥
हो जाता है नाश, सबहि उसके दुःखन को ।
सुख ही सुख चहुँ ओर, भाषता है पुनि जिसको ॥३६॥

जो सुख साधन प्रथम, काल में विषवत भाषत ।
परन्तु पीछे वही, परम अमृत सम लागत ॥
भगवत बुद्धि प्रसाद, परम सुख प्राप्त भया है ।
ऐसा सुख अति विमल, सात्त्विकी कहा गया है ॥३७॥

इन्द्रिन के जो भोग, प्रथम अमृत मय जानों ।
वे ही पीछे भोग, महाविष के सम जानों ॥
ये सुख राजस रूप, वेद ने वर्णन कीन्हों ।
अब आगे विपरीत, तामसी सुख भी चीन्हों ॥३८॥

जो पहिले सुख भोग, और परिणाम समय में ।
थवा आलस नींद, और भय उपजै जिसमें ॥
माद में पुनि हुआ, आत्मा को मोहत है ।
ा सुख अत्यन्त, महा तामस होवत है ॥३९॥

पृथ्वी अरु पुनि स्वर्ग, तथा देवों के माहीं ।
प्रकृति गणों से रहित, जीव कोई भी नाहीं ॥
हे अर्जुन ये जगत, त्रिगुणमयी माया वाला ।
पुरा हुआ सर्वत्र, इसी का सब पर जाला ॥४०॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, और पुनि शूद्र जनों के ।
स्वभाव से उत्पन्न, कर्म सब होंय उन्हों के ॥
संस्कार सम्मिलत, पूर्व कृत कर्मों द्वारा ।
न्यारे न्यारे खण्ड, किये गुण के अनुसारा ॥४१॥

ब्राह्मण के निज कर्म, स्वभाविक पहिले उनको ।
शास्त्र रीति अनुसार, बताता हूँ पुनि तुमको ॥
मन इन्द्रिय बस करें, और तप को कर धारन ।
शान्ति सरलता शौच, धर्म का करते पालन ॥
ज्ञान और विज्ञान, रूप में थिर रहते हैं ।
ये ही ब्राह्मण कर्म, वेद ऐसा कहते हैं ॥४२॥

शूरवीर पुनि तेज, धैर्यता रखने वाला ।
रण से भी वह कभी, पीठ नहिं देने वाला ॥
चातुरता भी होय, होय दानी भी सुन्दर ।
अथवा उत्तम भाव, रखै ईश्वर के अन्दर ॥
शास्त्र रीति अनुसार, प्रजा का पालन हारा ।
ये ही क्षत्रिय कर्म, स्वभाविक जाय निहारा ॥४३॥

तृतिय वर्ण जो वैश्य, समझ उसके कर्मों को ।
अथवा खेती करैं, और पालन गउओं को ॥
और वणिज भी करें, सत्य का सब देशों में ।
यही वैश्य का कर्म, स्वभाविक लखि वेदों में ॥
अथवा सेवा कर्म, शूद्र का निज बतलाया ।
हे अर्जुन ये वर्ण, धर्म तुमको समझाया ॥४४॥

अपने अपने कर्म, स्वभाविक करने वाले ।
निश्चय ही वे परम, सिद्धि को पाने वाले ॥
जिस प्रकार से सिद्धि, प्राप्त होती है उनको ।
उस विधि को मैं भली, भांति समझाऊँ तुमको ॥४५॥

जिस ईश्वर से सबहि, भूत प्राणी उपजाते ।
उससे ही सम्पूर्ण, जगत ये व्याप्त बताते ॥
उस ईश्वर को पूज, स्वभाविक कर्मों से ही ।
निश्चय करिके परम, सिद्धि को पाते वे ही ॥४६॥

इस प्रकार आचरण, श्रेष्ठ अपने ही लगते ।
औरों का जो धर्म, उसे भय रूप समझते ॥
जो अपना निज धर्म, गुणों से भलहिं रहित हो ।
उसमें ही कल्याण, समझ अपना निश्चय हो ॥
निज स्वभाव से नियत, हुए कर्मों से उनको ।
पापों का संयोग, कभी नहिं होता जिनको ॥४७॥

दोष युक्त भी कर्म, स्वभाविक नहीं त्यागना ।
उसका अच्छी तरह, हृदय में भाव राखना ॥
धुआँ अग्नि की भांति, सबहि कर्मों में होई ।
निश्चय करिके दोष, उस विषै कोइ न कोई ॥४८॥

हे अर्जुन आसक्ति, और इच्छाएं सब हर ।
जीता अन्तःकरण, बुद्धि को पवित्र रखकर ॥
सांख्य योग के साथ, परम निष्काम सिद्धि को ।
होता निश्चय प्राप्त, सच्चिदानन्द ब्रह्म को ॥४९॥

अन्तःकरण पवित्र, सिद्धि को प्राप्त हुआ जो ।
और सांख्य से पार, ब्रह्म को प्राप्त हुआ जो ॥
ज्ञान तत्त्व की परा, रूप निष्ठा को सुन तू ।
जिसको करके श्रवण, हृदय में रखकर गुन तू ॥५०॥

शुद्ध बुद्धि से युक्त, शुद्ध एकान्त जगह पर ।
कर सूक्ष्म आहार, बैठता है वह दृढ़कर ॥
मन वाणी बस करे, देह को भी कर बस में ।
फिर तो दृढ़ वैराग्य, प्रगट होता है उसमें ॥५१॥

रखै निरन्तर ध्यान, योग में निश्चलमन को ।
होती है उत्पन्न, धारणा सात्त्विक जिसको ॥
पुनि अन्तस को जीत, विषय शब्दादिक रोके ।
अथवा पुनि रागादि, द्वेष से न्यारा होके ॥५२॥

बल घमण्ड अरु काम, क्रोध संग्रह को जिसने ।
जीता भली प्रकार, और ममता को उसने ॥
इस प्रकार का पुरुष, शान्ति को प्राप्त हुआ है ।
वही ब्रह्म को प्राप्त, हुए के योग्य हुआ है ॥५३॥
सच्चिद घन आनन्द, ब्रह्म में एक भाव रख ।
होकर अधिक प्रसन्न, चित्त में परम लाभ लख ॥
ऐसा जन नहिं किसी, वस्तु की चिन्ता करता ।
अथवा ये भी नहीं, किसी आशा में परता ॥

सब भूतों में भाव, बराबर रखने वाला।
वो ही मेरी परा, भक्ति को पाने वाला ॥५४॥

हे भारत उस परा, भक्ति के द्वारा जिसको।
जाने भली प्रकार, तत्त्व से जो ईश्वर को॥
जिसका परम प्रभाव, समझकर निज अंतस में।
होता है तत्काल, प्राप्त वो अवशि ब्रह्म में॥
फिर तो उसके लिये, सबहि कुछ वोही वो है।
अन्य दूसरा नहीं, एक रस ब्रह्महि जो है ॥५५॥

इस प्रकार निष्काम, कर्म योगी कर्मों को।
होकर मेरी शरण, करे वो सदा उन्हों को॥
निश्चय ही वो पुरुष, प्राप्त होता मम पद को।
अविनाशी अव्यक्त, सनातन कहते जिसको ॥५६॥

हे अर्जुन मम शरण, होय मन से कर्मों को।
मुझे समर्पण करे, इस तरह समझ सबों को॥
समत्व बुद्धि के साथ, कर्म निष्काम करो तुम।
अथवा चित्त लगाय, निरन्तर ध्यान धरो तुम ॥५७॥

इस प्रकार से चित्त, मुझ विषै लग जावेगा।
मेरी पाकर कृपा, जगत से छुट जावेगा॥
जन्म मृत्यु दुःखादि, द्वन्द सब के सब तेरे।
अनायास मिट जायँ, वचन सुन ले ये मेरे॥
यदि घमण्ड को पाय, वचन मम नहीं सुनेगा।
हो जावेगा भ्रष्ट, वृथा फिर शिरहि धुनेगा ॥५८॥

अहङ्कार से युक्त, हुआ तू ऐसा माने।
नहीं करूंगा युद्ध, इस तरह अपनी ठाने॥

सो तो तेरी वृथा, कल्पना मानी जावै ।
क्षत्रिय निजी स्वभाव, युद्ध जबरन करवावै ॥५९॥
मोह पायकर कर्म, नहीं तू करना चावै ।
ये तेरा सिद्धान्त, समझ मेरी नहिं आवै ॥
बँधा हुआ कृत पूर्व, स्वभाविक कर्मों द्वारा ।
परवश करना पड़ै, पेश नहिं जाय तुम्हारा ॥६०॥

देह रूप जो यन्त्र, मध्य आरूढ़ हुए सब ।
हे अर्जुन सम्पूर्ण, भूतप्राणिन को लख अब ॥
अपनी माया साथ, उन्हों को भ्रमा रहा हूँ ।
अथवा उनके हृदय, मध्य भी समा रहा हूँ ॥६१॥

जो अनन्य प्रिय शरण, उसी ईश्वर के हो तू ।
जिसकी कृपा कटाक्ष, पाय संशय सब खो तू ॥
होकर निर्मल बुद्धि, शान्तता भी उपजावै ।
निश्चय ही फिर परम, सनातन पद को पावै ॥६२॥

हे अर्जुन ये ज्ञान, योप्य से गोप्य सुहाया ।
जिसको मैंने तुम्हें, रहस्य के सहित सुनाया ॥
पूर्ण रूप से इसे, समझ निर्णय कर लीजै ।
फिर जो इच्छा होय, तुम्हारी वैसा कीजै ॥६३॥

इतने पर भी नहीं, मिला उत्तर अर्जुन से ।
मुस्काकर श्रीकृष्ण, चन्द्र बोले फिर उससे ॥
हे प्यारे वह गुप्त, रहस्य फिर भी मैं तुमको ।
बतलाता हूँ उसे, समझ तेरे प्रिय हितको ॥६४॥

केवल मुझ आनन्द, कन्द परमेश्वर माँही ।
राख निरन्तर नित्य, अचल दृढ़ मन के ताँही ॥

पुनि श्रद्धा से युक्त, भजो निष्काम भाव से ।
अथवा फल को त्याग, रटो मम नाम चाव से ।।
मेरा परम प्रभाव, वेद में पढ़कर देखो ।
श्रवण मनन गुणगान, कीर्तन करके देखो ।।
शङ्ख चक्र पुनि गदा, पद्म आयुध भुजचारी ।
कुण्डल अरु पुनि क्रीट, छटा जिसकी अति प्यारी।।
पीताम्बर वन माल, और कौस्तुभमणिधारी ।
यही विष्णु को ध्यान, मनोहर लेओ निहारी ।।
मनसा वाचा देह, पाय जो कर्म होय सब ।
उसको भली प्रकार, करो मेरे अर्पण अब ।।
प्रेम भक्ति के साथ, और पूजन को कर तू ।
पूर्व कहा जो रूप, ध्यान उसका ही धर तू ।।
सर्व शक्तियों युक्त, रूप मेरा दर्शावै ।
बल विभूति ऐश्वर्य, और माधुर्य कहावै ।।
अथवा अति गम्भीर, सुहृद पुनि उदार वो है ।
वात्सल्य प्रियरूप, गुणों का स्वरूप वो है ।।
सबका आश्रय रूप, चित्त मेरे में धर तू ।
विनय सहित साष्टांग, दण्डवत् प्रणाम कर तू ।।
ऐसा करता हुआ, मुझे निश्चय ही पावै ।
ये मेरी दृढ़ परम, प्रतिज्ञा सत्य कहावै ।।६५।।

सब धर्मों को छोड़, शरण तू आजा मेरी ।
नष्ट करूंगा पाप, मुक्ति हो जावे तेरी ।।
ऐसा निश्चय जान, शोक तू मत कर मन में ।
पहुँचाऊँ मम धाम, तनिक संशय नहिं इसमें ।।

जो भी कुछ कर्त्तव्य, करो मेरे सब अर्पन ।
अथवा फल का कभी, भोगने वाला मत बन ॥६६॥

इस प्रकार से कहे, हुए इस परम रहस्य को ।
भक्ति हीन को नहीं, सुनाना चहिये इसको ॥
अथवा तप से रहित, और निन्दक कहलावै ।
सुपने में भी कभी, नहीं वह सुनना चावै ॥
जिसमें ये सब दोष, नहीं हो उन भक्तन को ।
प्रेम पूर्वक इसे, सुनाना चहिये उनको ॥६७॥

ऐसा गीता शास्त्र, रहस्य के सहित सुहावै ।
जिसको पढ़कर भक्त, मुझ विषै प्रेम बढ़ावै ॥
होकर के निष्काम, भाव से इसे सुनाता ।
अथवा कर व्याख्यान, अर्थ द्वारा समझाता ॥
इस प्रकार के साथ, परस्पर पढ़ै पढ़ावै ।
हे अर्जुन वह पुरुष, मुझे निश्चय ही पावै ॥६८॥

जिन पुरुषों का परम, प्रेम गीता के माँही ।
उन सम पृथ्वी माँहि, मुझे दूजा प्रिय नाँही ॥
उनसे बढ़कर मुझे, और प्यारा नहिं कोई ।
कैसा भी कर्त्तव्य, कर्म वाला वह होई ॥६९॥

हे भारत इस धर्म, रूप गीता के अन्दर ।
दोनों का सम्वाद, समझकर जिसमें सुन्दर ॥
नित्य नियम के साथ, इसे जो पढ़ै सुनेंगे ।
वे अधिकारी ज्ञान, योग के अवशि बनेंगे ॥
ये मेरा मत अटल, निरन्तर सत्य निहारो ।
गीता का जो ज्ञान, मोक्ष का देने हारो ॥७०॥

दोष दृष्टि से रहित, हुआ श्रद्धा से ताको।
किञ्चित भी जो पुरुष, सुनेगा इस गीता को॥
उनके सबके सबहि, पाप जड़ से मिट जावें।
वे निश्चय ही परम, श्रेष्ठ लोकन को पावें॥७१॥

कह गीता को महात्म, कृष्ण बोले अर्जुन से।
क्या ये मेरा वचन, सुना एकाग्र चित्त से॥
हे अर्जुन ये मोह, हुआ अज्ञान पायकर।
नष्ट हुआ या नहीं, कहो मुझ से समझाकर॥७२॥

❀ अर्जुन बोला ❀

हे भगवन् अब कृपा, आपकी पाकर मेरा।
नष्ट हो गया मोह, रहा नहिं हृदय अँधेरा॥
स्मृति प्राप्त अब हुई, और थिर बुद्धि हुआ मैं।
संशय भी मिट गया, परम निर्द्वन्द हुआ मैं॥
अब मैं पूरी तरह, आपकी आज्ञा पालूँ।
जो भी तुमने कहा, उसी पर निश्चय चालूँ॥७३॥

❀ संजय बोला ❀

हे राजन् धृतराष्ट्र, कृष्ण अर्जुन का मैंने।
ये अद्भुत सम्वाद, सुना सब का सब तैंने॥
ऐसा उत्तम रहस्य, बड़ा रोमाञ्चित कारी।
जिसको मैंने हृदय, समझ कर तुम्हें उचारी॥७४॥

ये मैंने श्री व्यास, कृपा से परम तत्व को।
स्वयम् कृष्ण से सुना, भली विधि गोप्य रहस्य को।७५।

दोनों का सम्वाद, रहस्य के सहित सुनाया।
जिसे सुमर कर बार, बार अति हर्ष बढ़ाया॥

हे राजन धृतराष्ट्र, परम अद्भुत भाषण को ।
सुन करके आनन्द, हुआ मम बहुत हृदय को ॥७६॥
ऐसा रूप विचित्र, देख करके श्री हरि को ।
अचरज होय महान, हर्ष भी होता मुझको ॥७७॥
हे राजन धृतराष्ट्र, अधिक अब क्या समझाऊँ ।
मेरा तो मत यही, सही तुमको बतलाऊँ ॥
योगेश्वर श्रीकृष्ण, और अर्जुन हैं तहँ पर ।
विजय विभूति महान, कीर्ति भी है प्रिय जहँ पर ॥७८॥

❀ दोहा ❀

जो गीता को पढ़ेंगे, नित प्रति ध्यान लगाय ।
तो निश्चय ही उन्हों का, जन्म मरण मिट जाय ॥

ॐ प्रेमामृत गीतायाम् श्रीकृष्ण अर्जुन
सम्वादे मोक्षसन्यास योगो नाम
अष्टादश अध्याय सम्पूर्ण
ॐ
शान्ति शान्ति
शान्ति

❀ प्रस्तावना ❀

❀ पाठ प्रथम ❀

वेदान्त शास्त्र ने तीन दोष बड़े ही प्रबल बतलाये हैं। उन दोषों से जीव आत्मा हमेशा दबा हुआ रहता है जैसे अग्नि का अंगारा विभूति में दबा रहता है तथा जैसे निर्मल जल काई से छिपा हुआ रहता है वैसे ही यह जीव आत्मा उन दोषों से ढका हुआ रहता है दोष यही हैं मल, विक्षेप, आवर्ण,मल पाप को कहते हैं। विक्षेप चित्त की चंचलता को कहते हैं। आवर्ण अज्ञान के पर्दे को कहते हैं। इन्हीं तीन दोषों को मिटाने के लिये भगवान श्री कृष्ण ने अपने श्री मुख से गीता में तीन ही उपाय बताये हैं कर्म,उपासना, ज्ञान। कर्म इन्द्रियों के द्वारा होता है वो कर्म दो प्रकार का माना जाता है शुभ तथा अशुभ दूसरी उपासना-चित्त वृत्तियों को रोक एक जगह चित्त ठहराने का नाम ही उपासना है एक दूसरी चीज में चित्त को जोड़ना ही योग माना जाता है इस उपासना में दो रूप सिद्ध होते हैं दास तथा स्वामी का भाव प्रगट रहता है। अपने रूप को जान लेना ही ज्ञान समझा जाता है यही ज्ञान महा वाक्यों में अहं ब्रह्मस्मि शब्द को बोधित करता है उपासना में अहं त्वम् शब्द का भाव रहता हैं अहं ब्रह्मस्मि शब्द एक ही ब्रह्म को सिद्ध करता है। मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ मुझे क्या करना है बस उसी का नाम ज्ञान है।

❀ पाठ दूसरा ❀

प्रश्नः—भगवान श्रीकृष्ण ने गीता ज्ञान किस श्लोक से प्रारम्भ किया है और किस श्लोक में समाप्त किया है।

उत्तरः—दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से प्रारम्भ हुआ है।

(अशोचा नन्व सोचस्तम्) नहीं सोचने योग्य वस्तुओं का सोच कर रहा है। इसी श्लोक में प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश चालू किया है। अठारहवें अध्याय के छाँसठ में श्लोक में निवृत्ति मार्ग को बताते हुऐ समाप्त कर दिया है। मामेकम् शरनम् व्रजा एक मेरी ही शरण आके सब को छोड़ माँशुचा सोच मत कर। यह भगवान ने निवृत्ति विषय का आखरी शब्द कहा है। सर्व धर्मान् परित्यज्ञ मामेकम् शरणं व्रज अहं त्व सर्व पापेभ्यो मोक्षस स्यामि माँशुचा सब को छोड़ कर एक मेरी ही शरण में आ तुझे पापों से मुक्त करूँगा शोच मत कर इन दोनों श्लोकों के मध्य में वेद नीति लोक नीति देश नीति कुल नीति धर्म नीति

तथा राज नीति वरणाश्रम नीति इन्हीं नीतियों को बार-बार वर्णन करते रहे इसी को प्रवृति मार्ग माना है उसी प्रवृति विषय को महाराज तिलक ने इङ्गलिश भाषा में अंग्रेजों को गीता का सिद्धान्त सही सिद्ध करके बतलाया था इसलिये भगवान ने प्रवृति मार्ग पर अर्जुन को चलाने को बारबार कर्म करने को आज्ञा देते रहे यदि पहले से ही निवृति मार्ग पर चलने को कहते तो संसार में विभारिकसत्ता किस प्रकार से बनती ! संसार में रहते हुए सद् व्यवहार करने का नाम ही प्रवृति मार्ग है निवृति मार्ग में कोई कार्य नहीं होते इसीलिये भगवान ने सब से पीछे अठारहवें अध्याय के छासठवें श्लोक में निवृति मार्ग को बतलाया। सब कर्मों को छोड़ कर एक मेरी ही शरण में आजा तुझे मुक्त करूँगा माँसुचा सोच मत कर यही दो श्लोक आदि और अन्त के माने गये हैं।

❁ पाठ तीसरा ❁

* दोहा *

दुनियाँ भर के मतों में, तीन वस्तु हैं सार।
ईश्वर भक्ती अहिंसा, भाषण सत्य विचार॥

(१)

जिस मत में तीनों नहीं, वह मत वेग नसाय।
उन्नति हो सकती नहीं, कोटिन करो उपाय॥

(२)

सत्य अहिंसा धर्म को, माना गया महान।
तृतिये ईश्वर नाम को, करते सब गुणगान॥

(३)

अपने ही मत में सदा, करता दृढ़ अनुराग।
अन्य मतों की वासना, देय हृदय से त्याग॥

(४)

वोई सच्चा उपासक, समझा जाय महान।
पति भर्त्ता की तरह वह, रखे एक से ध्यान॥

(५)

हाथ जोड़ सबसे कहै, लछमण बारम्बार।
भूल चूक यदि हुई हो, लेंगे सुजन सँभार॥